250

॥ श्रीहरि: ॥

ईश्वर और संसार

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-२—खण्ड-२)

जयदयाल गोयन्दका

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९० से २०५३ तक	१,५८,२५०
सं० २०५४ चौबीसवाँ संस्करण	५,०००
	योग १,६३,२५०

मूल्य—सात रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : ३३४७२१

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

शास्त्रोंका अवलोकन और महापुरुषोंके वचनोंका श्रवण करके मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके समान कल्याणके लिये कोई भी उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। गीतामें ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रुचि और योग्यताके अनुसार करनेसे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त साधनोंकी तथा परमात्माकी तत्त्व रहस्य जाननेके लिये महापुरुषोंका और उनके अभावमें उच्चकोटिके साधकोंका श्रद्धा, प्रेमपूर्वक सङ्ग करनेकी विशेष चेष्टा रखते हुवे गीताको अर्थ और भाव सहित मनन करने तथा उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये प्राण पर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

निवेदक—

कार्तिक शुक्ला ११ सं० २००६ | जयदयाल गोयन्दका

बाँकुड़ा

नोट—सं०२०४८ से तत्त्व-चिन्तामणि भाग-२—दो खण्डोंमें प्रकाशित की गयी है—प्रथम खण्डका नाम 'शीघ्र कल्याणके सोपान' तथा द्वितीय खण्डका नाम 'ईश्वर और संसार' है।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची



ईश्वर और संसार

* * * * *

एक सज्जन निम्नलिखित प्रश्न करते हैं—

प्र०—वेद, पुराण, शास्त्र तथा अन्यान्य मतोंके ग्रन्थोंके देखनेसे प्रायः यही पता लगता है कि कर्मके अनुसार ही जीवात्मा एक योनिसे दूसरी योनिमें जन्म लेता है। यदि ऐसा ही है तो आरम्भमें जब संसार बना और प्रकृतिके भिन्न-भिन्न साँचों (देहों) में शुद्ध, निर्मल, कर्मशून्य आत्माका प्रवेश हुआ, उस समय आत्माको कौन-सा कर्म लागू हुआ? यदि आत्माका आना-जाना स्वाभाविक है तो भक्तिकी क्या आवश्यकता?

उ०—गुणों और कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा सदासे चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेता फिरता है। मनुष्य, कीट, पतंग आदि प्रकृतिरचित योनियाँ सृष्टिके आदिमें प्रकट होती हैं और सृष्टिके अन्तमें उसी प्रकृतिमें वैसे ही लय हो जाती हैं जैसे नाना प्रकारके आभूषण स्वर्णसे उत्पन्न होकर अन्तमें स्वर्णमें ही लय हो जाते हैं। कारणरूप प्रकृति अनादि है। जिसको जीवात्मा या व्यष्टिचेतन कहते हैं उसका इस प्रकृतिके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। अवश्य ही यह सम्बन्ध अनादि होनेपर भी प्रयत्न करनेसे छूट सकता है। इस सम्बन्ध-विच्छेदको ही मुक्ति कहते हैं और इस मुक्तिके लिये ही भक्ति, कर्म और ज्ञानादि साधन बतलाये गये हैं।

आत्माका आना-जाना ऐसा स्वाभाविक नहीं है जिसके रुकनेका कोई उपाय ही न हो। यदि यह कहा जाय कि 'जीवात्माका आना-जाना जब सदासे ही स्वभावसिद्ध है तो फिर वह सदा ही रहना भी चाहिये; क्योंकि जो वस्तु

अनादि होती है वह सदा ही रहती है।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्माका आना-जाना अज्ञानजनित है। अज्ञान या भूल ही एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होनेपर भी यथार्थ ज्ञान होनेके साथ ही नष्ट हो जाती है। यह बात सभी विषयोंमें प्रसिद्ध है। एक मनुष्यको जब किसी नये विषयका ज्ञान होता है तो उस विषयमें उसका पूर्वका अज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु वह अज्ञान यथार्थ ज्ञान न होनेतक तो अनादि ही था, उसके आरम्भकी कोई भी तिथि नहीं थी। जब भौतिक ज्ञानसे भी भौतिक अज्ञान नष्ट हो जाता है तब परमार्थ-विषयक यथार्थ ज्ञान होनेपर अनादिकालसे रहनेवाले अज्ञानके नष्ट हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है ? प्रत्युत इसमें एक विशेषता है कि परमात्माके नित्य होनेसे उसका ज्ञान भी नित्य है। इसी ज्ञानके लिये भक्ति आदि साधन करने चाहिये।

प्र०—आरम्भमें जब संसार बना और इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके साँचे (शरीर) बने, वे कैसे बने ? क्या तत्त्वोंके परस्पर संयोगसे आप-ही-आप सब कुछ बन गया ? यदि ऐसा ही माना जाय तो इस समय भी प्रकृति, तत्त्व और आत्मा तो वही हैं किन्तु आप-से-आप कोई साँचा नहीं बनता। यदि यह माना जाय कि स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्माने स्थूल शरीर धारणकर अपने हाथोंसे प्रत्येक साँचे (शरीर)को गढ़ा है, तो सन्तोंने परमात्माको निराकार क्यों बतलाया है ? स्त्री-पुरुषके संयोग बिना स्थूल शरीर बनना भी सम्भव नहीं। यदि किसी प्रकार बन भी जाय तो वह एकदेशीय व्यक्ति सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

उ०—प्रकृतिकी शुरुआतका बनाया हुआ कोई भी संसार नहीं माना जा सकता। शुरुआत माननेसे यह सिद्ध हो जायगा कि पहले संसार नहीं था, परन्तु ऐसी बात नहीं है। उत्पत्ति-विनाशस्वरूप प्रवाहमय संसार सदासे ही है, ऐसा माना गया है। यदि यह मान लें कि शुरू-शुरूमें तो किसी भी कालमें संसार बना ही होगा तो इससे शास्त्रकथित संसारका अनादित्व मिथ्या हो

जायगा। केवल शास्त्रोंकी ही बात नहीं, तर्कसे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वमें यदि एक ही शुद्ध वस्तु थी, संसारका कोई बीज नहीं था तो वह किस कारणसे, कैसे और क्यों बनता ? अवश्य ही यह सत्य है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनहोनी बात भी कर सकता है, परन्तु बिना ही कारण जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्थितियुक्त संसारको ईश्वर क्यों रचता ? यदि बिना ही कारण, ईश्वरने यह भेदपूर्ण सृष्टि रची तो इससे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है जो ईश्वरमें कदापि सम्भव नहीं !

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर-सकाशके बिना ही केवल प्रकृतिसे ही संसारकी रचना हो गयी तो प्रथम तो प्रकृतिके जड होनेसे ऐसा सम्भव नहीं, दूसरे जब पहले प्रकृति शुद्ध थी तो पीछेसे किसी कालमें स्वभावसे उसमें नाना प्रकारकी विकृति, बिना ही बीज और बिना ही हेतुके कैसे उत्पन्न हो गयी ? यदि प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है तो वह पहले भी वैसा ही होना चाहिये और यदि पहले भी ऐसा ही था तो विकृति-प्रकृति यानी संसार अनादि ठहर ही जाता है। अतएव 'पहले प्रकृति शुद्ध थी, स्वभावसे या ईश्वरकी इच्छासे अकारण ही संसारकी उत्पत्ति हो गयी' यह बात शास्त्र और तर्कसे सिद्ध नहीं होती। इससे यही समझना चाहिये कि परमात्मा, जीव, प्रकृति और प्रकृतिका कार्य चराचर योनियोंसहित संसार-कर्म और इनका परस्पर सम्बन्ध—ये अनादि हैं। इनमें प्रकृतिका कार्यरूप संसार और कर्म तो उत्पत्ति-विनाशके प्रवाहरूपमें अनादि हैं। इनका स्थायी एक-सा स्वरूप नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप संसार और कर्मको आदि-अन्तवाले, क्षणभंगुर, अनित्य और नाशवान् बतलाया है। प्रकृति और प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध अनादि है, परन्तु सान्त है। इस विषयका विशेष वर्णन 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय'में 'भ्रम अनादि और सान्त है' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये।

बहुत सूक्ष्म विचार और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका मनन करनेसे प्रकृति भी अनादि और सान्त ही ठहरती है। वेदान्त-शास्त्र प्रकृतिको परमेश्वरके एक

अंशमें अध्यारोपित मानता है। वेदान्तके सिद्धान्तसे ज्ञान होनेपर अनादि प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। सांख्य और योगशास्त्र, जो अत्यन्त तर्कयुक्त दर्शन हैं और जो प्रकृति-पुरुषको अनादि और नित्य माननेवाले हैं, वे भी प्रकृति-पुरुषके संयोगको तो अनादि और सान्त मानते हैं। इनके संयोगके अभावको ही दुःखोंका अभाव मानते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं और यह भी मानते हैं कि जो जीव मुक्त या कृतकृत्य हो जाता है उसके लिये प्रकृतिका विनाश हो गया, प्रकृति उन्हींके लिये रहती है जिनको ज्ञान नहीं है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग० २।२२)

इन दर्शनोंने यह भी माना है कि प्रकृति और पुरुषकी पृथक्-पृथक् उपलब्धि संयोगके हेतुसे होती है। इस संयोगका हेतु अज्ञान है। ज्ञान होनेपर तो उस आत्माकी 'केवल' अवस्था बतलायी गयी है, यदि सबकी मुक्ति हो जाय तो इनके सिद्धान्तसे भी प्रकृतिका अभाव सम्भव है, क्योंकि मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृतिका नाश हो जाता है। अज्ञानके कारण अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृति रहती है। परन्तु अज्ञानीकी दृष्टिका कोई मूल्य नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि ही वास्तवमें सत्य है। अतएव सबको ज्ञान हो जानेपर किसी भी दृष्टिसे प्रकृतिका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इन सब सूक्ष्म विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवोंके कर्म भी अज्ञानकी भाँति अनादि और सान्त ही हैं। ऐसी परम वस्तु तो एक आत्मा ही है जो अनादि, नित्य और सत् है।

न्याय और वैशेषिकके सिद्धान्तसे अनेक पदार्थोंको सत्य माना जाता है, परन्तु उनकी सत्ता और सिद्धि तो थोड़े-से विचारसे ही उड़ जाती है। जैसे वर्षासे बालूकी भीत बह जाती है या जैसे स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थोंकी सत्ता जागनेके बाद भिन्न-भिन्न नहीं रहकर एक द्रष्टा ही रह जाता है, ऐसे ही विचार करनेपर भिन्न-भिन्न सत्ताओंका अभाव होकर एक आत्म-सत्ता ही शेष

रह जाती है। दूसरी सत्ताको स्थान दिया जाय तो स्वभाव या जिसे प्रकृति कहते हैं, उसको जगह मिल जाती है, परन्तु वह ज्ञान न होनेतक ही रहती है। जिसको स्वप्न आता है, उस पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीकी जो सत्ता ठहरती है, वही सत्ता इस संसारसे जागनेके बाद स्थूल आकाशादिकी ठहरती है, अतएव यह सोचना चाहिये कि स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीके परमाणुओंकी पृथक्-पृथक् सत्ता किस मूल भित्तिपर स्थित है ?

यह तो सिद्ध हो गया कि साँचे या शरीर उत्पत्ति-विनाशरूपसे अनादि हैं। अब यह प्रश्न रह जाता है कि सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम ये कैसे बने ? अपने-आप बने या निराकार परमेश्वरने साकाररूपसे प्रकट होकर इनको बनाया अथवा निराकाररूपके द्वारा ही ये साकार साँचे ढल गये ? यदि निराकार ईश्वर साकार बना तो वह एकदेशीय होनेपर सर्वव्यापी कैसे रहा ?

यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसपर बहुत सोचनेकी आवश्यकता हो। शान्तिपूर्वक विचार करनेपर इसका समाधान तो अनायास ही हो सकता है। महासर्गके आदिमें परमेश्वररूप पिता और प्रकृतिरूप माताके संयोगसे सब जीवोंके गुण-कर्मानुसार शरीर उत्पन्न होते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(१४। ३-४)

'हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ, इस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी

****

उत्पत्ति होती है तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

यदि यह पूछा जाय कि दोनों पदार्थ आरम्भमें निराकार थे फिर इन दोनोंके सम्बन्धसे स्थूल देहोंकी उत्पत्ति कैसे हो गयी ? इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें निराकाररूपसे जल स्थित है वही अव्यक्त सूक्ष्म जल वायुके संघर्षणसे धूमरूपको प्राप्त हो फिर बादलके रूपमें परिणत होकर स्पष्टरूपसे व्यक्त द्रव जलके रूपमें होकर अन्तमें बर्फका पिण्ड बन जाता है, वैसे ही इस सृष्टिके आदिमें प्रकृतिमें लयरूपसे स्थित संसार भी प्रकृति और परमेश्वरके संघर्षणसे बर्फ-पिण्डकी भाँति मूर्तरूपमें प्रकट हो जाता है। यह तो मानना ही होगा कि आकाशमें बर्फके पिण्ड स्थित नहीं हैं, होते तो वहाँ ठहर ही नहीं सकते। आकाशकी निराकारता भी स्पष्ट देखनेमें आती है, पर देखते-ही-देखते निर्मल आकाशमें मेघोंकी उत्पत्ति हो जाती है। विज्ञान और विचारसे यह सिद्ध है कि सूर्यकी किरणोंमें स्थित निराकार परमाणुरूप जल ही मेघ और स्थूलजलके रूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे रहनेवाली अग्नि कभी-कभी बादलोंके अन्दर बिजलीके रूपमें चमकती हुई दीखती है। कभी कहीं गिरती है तो उस स्थानको जलाकर तहस-नहस कर डालती है। जब अग्नि और जल आदि स्थूल पदार्थ भी निराकारसे साकार बन जाते हैं तब निराकार ईश्वर और प्रकृतिके संयोगसे निराकार संसारका साकाररूपमें आना कौन बड़ी बात है ?

यह भी समझनेकी बात है कि जो साकार वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह लय भी उसीमें होती है। वायुके द्वारा निर्मल निराकार आकाशमें बिजली उत्पन्न होती है और फिर उसी आकाशमें शान्त हो जाती है। तेजके संघर्षणसे जलकी उत्पत्ति होती है, शीतसे उसका पिण्ड बन जाता है। फिर वही जल तेजसे तपाये जानेपर द्रव होकर भापके रूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें

आकाशमें जाकर रम जाता है। इसी प्रकार जीवोंके शरीर भी सृष्टिके आदिमें गुण-कर्मानुसार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। यह आदि-अन्तका प्रवाह अनादि है।

प्रकृतिका रूप किसी समय सक्रिय होता है और किसी समय अक्रिय; यह उसका स्वभाव है। जिस समय सत्त्व, रज, तम तीनों गुण साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं तब यह गुणमयी प्रकृति अक्रियरूपमें रहती है और जब तीनों गुण विषमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं तब प्रकृतिका रूप सक्रिय बन जाता है। सक्रिय प्रकृति ईश्वरके सम्बन्धसे गर्भस्थ जीवोंको मूर्त्तरूपमें प्रकट करती है।

भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

(गीता ९। १०)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है और इसी उपर्युक्त हेतुसे यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

परमेश्वर निराकार रहते हुए भी साकाररूप धारणकर किस प्रकार सर्वव्यापी रहता है, इस बातको समझनेके लिये अग्निका उदाहरण सामने रखना चाहिये। एक निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, वही हमारे शरीरके अन्दर भी है जो खाये हुए अन्नको पचा देती है। अग्नि न हो तो अन्न पचे नहीं और यदि वह व्यक्त हो तो शरीरको भस्म कर दे। इससे सिद्ध होता है कि हमारे अन्दर अव्यक्त अग्नि है। यही सर्वत्र व्याप्त निराकार अव्यक्त अग्नि ईंधन और संघर्षणसे साकार बन जाती है। जिस समय अग्निका साकाररूप नहीं होता, उस समय भी वह काठ आदिमें निराकाररूपसे रहती है। न रहती तो संघर्षणसे प्रकट कैसे होती ? फिर वही अग्नि जब शान्त कर दी जाती है तब फिर निराकाररूपमें परिणत हो जाती है। जिस समय वह ज्वालाके रूपमें एक

****

स्थानमें प्रकट होती है उस समय कोई भी यह नहीं कह सकता कि जब अग्नि यहाँ प्रकट हो गयी तो अन्यान्य स्थानोंमें नहीं है। यह निश्चित बात है कि एक या अनेक जगह एक ही साथ प्रकट होनेपर भी निराकार अग्नि व्यापकरूपसे सभी जगह वर्तमान रहती है। इसी प्रकार परमात्मा भी मायाके सम्बन्धसे एक या अनेक जगह साकाररूपसे प्रकट होकर भी उसी कालमें निराकार व्यापक-रूपसे सर्वव्यापी रहता है। उसकी सर्वव्यापकता और पूर्णतामें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। अग्निका उदाहरण भी केवल समझानेके लिये ही दिया गया है। वास्तवमें परमात्माकी सर्वव्यापकताके साथ अग्निकी सर्वव्यापकताकी तुलना नहीं हो सकती!

प्र०—ईश्वरने प्रकृति और संसारको बनाया, इसमें उसका क्या प्रयोजन था ?

उ०—प्रकृतिको ईश्वरने नहीं बनाया, प्रकृति तो उसी वस्तुका नाम है जो सदासे स्वाभाविक ही हो। अवश्य ही चराचर जगत्‌को भगवान्‌ने बनाया है। इसमें उन न्यायकारी, सर्वव्यापी, दयामय परमात्माकी अहैतुकी दया ही समझनी चाहिये। जिन जीवोंके पूर्वमें जैसे गुण और कर्म थे उन सब चराचर जीवोंको भगवान् उन्हींके गुण-कर्मानुसार देहसहित उत्पन्न करते हैं। स्वार्थ, आसक्ति और हेतुरहित न्यायकर्ता होनेके कारण जीवोंके गुण-कर्मानुसार रचयिता होनेपर भी भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परन्तु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है!

*****

रामायणमें आदर्श भ्रातृ-प्रेम

* * * *

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। ऐसे अनन्त गुणोंके समुद्र श्रीरामके सम्बन्धमें मुझ-सरीखे व्यक्तिका कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपन है तथापि अपने मनोविनोदके लिये शास्त्रोंके आधारपर यत्किञ्चित् लिखनेका साहस करता हूँ। विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारञ्जकता, ब्रह्मण्यता, मातृपितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम, सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञातत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्टविनाश, निर्वैरता, सख्यता और लोकप्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श बर्ताव है, उसकी ओर खयाल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता

****

तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। रामराज्याभिषेककी बात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी, श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु बनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्गार निकल पड़ते हैं—

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता।
जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू।
तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर बर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोकहितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव, मनुष्य और पशु-पक्षी किसीका भी रामसे विरोध नहीं था। यज्ञविध्वंसकारी राक्षसों और शूर्पणखाके कान-नाक काटनेपर खर, दूषण, त्रिशिरा, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदिके साथ जो वैर-भाव और युद्धका प्रसंग आता है, उसमें भी रहस्य भरा है। वास्तवमें रामके मनमें उनमेंसे किसीके साथ वैर था ही नहीं। राक्षसगण भी अपने सकुटुम्ब-उद्धारके लिये ही उन्हें वैर-भावसे भजते थे। रावण और मारीचकी उक्तियोंसे यह स्पष्ट है—

सुर रंजन भंजन महि भारा।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

—रावण

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥

—मारीच

इससे यह सिद्ध है कि श्रीरामके जमानेमें चराचर जीवोंका श्रीरामके प्रति जैसा आदर्श प्रेम था, वैसा आजतक किसीके सम्बन्धमें भी देखने-सुननेमें नहीं आया।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति कैसी आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही बर्ताव किया।

जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—माता! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

श्रीरामने कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे कहा—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥

(वा० रा० २।२२।६-८)

'हे लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके संवादसे अत्यन्त परिताप पायी हुई माता कैकेयीके मनमें किसी प्रकारकी शङ्का न हो तुम्हें वैसा ही करना चाहिये। मैं उसके मनमें उपजे हुए शङ्कारूप दुःखको एक घड़ीके लिये भी नहीं सह

सकता। हे भाई! जहाँतक मुझे याद है, मैंने अपने जीवनमें जानमें या अनजानमें माताओंका और पिताजीका कभी कोई ज़रा-सा अप्रिय कार्य नहीं किया।'

इसके बाद वनसे लौटते हुए भरतजीसे श्रीरामने कहा—

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥
(वा० रा० २। ११२। १९)

'हे तात! माता कैकेयीने (तुम्हारी हित-) कामनासे या (राज्यके) लोभसे जो यह कार्य किया, इसके लिये मनमें कुछ भी विचार न कर भक्ति-भावसे उनकी माताकी भाँति सेवा करना।'

इससे पता लगता है कि रामकी अपनी माताओंके प्रति कितनी भक्ति थी। एक बार लक्ष्मणने वनमें कैकेयीकी कुछ निन्दा कर डाली। इसपर मातृभक्त और भ्रातृप्रेमी श्रीरामने जो कुछ कहा सो सदा मनन करने योग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० ३। १६। ३७)

'हे भाई! बिचली माता (कैकेयी) की निन्दा कभी मत किया करो। बातें करनी हों तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये।' (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है।)

इसी प्रकार उनकी पितृभक्ति भी अद्भुत है। पिताके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीरामने क्या नहीं किया। पिताको दुःखी देखकर जब श्रीरामने कैकेयीसे दुःखका कारण पूछा तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परन्तु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं हैं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन ही नहीं निकलते, यदि तुम राजाके आज्ञापालनकी प्रतिज्ञा करो तो ये कह सकते हैं, तुमको वह कार्य अवश्य ही करना चाहिये जिसके लिये इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की है।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

****

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा० २।१८।२८-२९)

'अहो, मुझे धिक्कार है, हे देवि! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ।' एक समय लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगरपुत्र और परशुरामजी आदिका उदाहरण देते हुए कहा कि 'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है, मैं विचारक नहीं हूँ, मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २।२१।३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो, माता! पिताजीके वचनोंको टालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है, पत्नी सीताके प्रति रामका कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीताहरणके पश्चात् श्रीरामकी दशा देखनेसे होता है। महान् धीर-वीर राम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कदम्ब, बेल, अशोकादि वृक्षोंसे और हरिणोंसे सीताका पता पूछते हैं। यहाँ भगवान् श्रीरामने अपने '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' के वचनोंको मानो चरितार्थ कर दिया है। वे विलाप करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागलकी भाँति ज्ञानशून्य-से हो जाते हैं, मूर्च्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते, हा सीते' पुकार उठते हैं।

****

श्रीरामका सख्यप्रेम भी आदर्श है। सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर आप मित्रके लक्षण बतलाते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

फिर उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

इसी प्रकार रामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामायणमें हमें जिस भ्रातृप्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृप्रेमका जैसा उच्चातिउच्च आदर्श प्राप्त होता है वैसा जगत्‌के इतिहासमें कहीं नहीं है। पाण्डवोंमें भी परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। उनके भ्रातृप्रेमकी कथाएँ पढ़-सुनकर चित्त द्रवित हो उठता है और हम उनकी महिमा गाने लगते हैं, परन्तु रामायणके भ्रातृप्रेमसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। रामायणकालसे महाभारतकालके भ्रातृप्रेमका आदर्श बहुत नीचा था। इस कालकी तो बात ही क्या है, जहाँ बात-बातमें लड़ाइयाँ होती हैं और जरा-जरा-से सुख-भोगके लिये भ्राइयोंकी हत्यातक कर डाली जाती है! आज इस लेखमें श्रीराम प्रभृति चारों भाइयोंके भ्रातृप्रेमके सम्बन्धमें यथामति किञ्चित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम

लड़कपनसे ही श्रीराम अपने तीनों भाइयोंके साथ बड़ा भारी प्रेम करते थे।

****

सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुःखी नहीं होने देते थे। यहाँतक कि अपनी जीतमें भी उन्हें खुश करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकारकर दाँव देते थे।

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

श्रीराम तीनों भाइयोंको साथ लेकर भोजन करते, साथ ही खेलते और सोते थे। विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मण वनमें गये। अनेक विद्या सीखकर और राक्षसोंका विनाशकर मुनिके साथ दोनों भाई जनकपुरमें पहुँचे। धनुष भङ्ग हुआ। परशुरामजी आये और कोप करके धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे, श्रीरामने बड़ी नम्रतासे और लक्ष्मणजीने तेजयुक्त वचनोंसे उनके प्रश्नका उत्तर दिया। लक्ष्मणजीके कथनपर परशुरामजीको बड़ा क्रोध आया, वे उनपर दाँत पीसने लगे। इसपर श्रीरामने जिस चतुरतासे भाईके कार्यका समर्थन कर भ्रातृप्रेमका परिचय दिया, उस प्रसङ्गके पढ़नेपर हृदय मुग्ध हो जाता है।

तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई, परन्तु श्रीरामने स्वयंवरमें विजय प्राप्तकर अकेले ही अपना विवाह नहीं करा लिया। लक्ष्मणजी तो साथ थे ही, भरत-शत्रुघ्नको बुलाकर सबका विवाह भी साथ ही करवाया।

विवाहके अनन्तर अयोध्या लौटकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहने लगे और अपने आचरणोंसे सबको मोहित करने लगे। कुछ समय बाद भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। पीछेसे राजा दशरथने मुनि वसिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके अति शीघ्र राज्याभिषेकका निश्चय किया। चारों ओर मङ्गल-बधाइयाँ बँटने लगीं और राज्याभिषेककी तैयारी की जाने लगी। वसिष्ठजीने आकर श्रीरामको यह हर्ष-संवाद सुनाया। राज्याभिषेककी बात सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होता, परन्तु श्रीराम प्रसन्न नहीं हुए, वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे 'अहो! यह कैसी बात है, जन्मे साथ, खाना-पीना, सोना-

****

खेलना साथ हुआ, कर्णवेध, जनेऊ और विवाह भी चारोंके एक साथ हुए, फिर यह राज्य ही मुझ अकेलेको क्यों मिलना चाहिये, हमारे निर्मल कुलमें यही एक प्रथा अनुचित है कि छोटे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़ेको ही राजगद्दी मिलती है—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ। मनकी प्रसन्नतासे नहीं, परन्तु पिताकी आज्ञासे उन्हें राज्याभिषेकका प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। परन्तु उनके मनमें यही था कि मैं सिर्फ यह प्रथाभर पूरी कर रहा हूँ, वास्तवमें राज्य तो भाइयोंका ही है। भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, अतः श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

(वा० रा० २।४।४४)

'भाई सौमित्रे! तुम वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो, मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है।'

इसके बाद ही इस लीला-नाटकका पट-परिवर्तन हो गया। माता कैकेयीकी कामनाके अनुसार राज्याभिषेक वनगमनके रूपमें परिणत हो गया। प्रातःकालके समय जब श्रीराम पिता दशरथकी सम्मतिसे सुमन्तके द्वारा कैकेयीके महलमें बुलाये गये और जब उन्हें कैकेयीके वरदानकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, वे कहने लगे कि 'माता! इसमें बात

ही कौन-सी है। मुझे तो केवल एक ही बातका दुःख है कि महाराजने भरतके अभिषेकके लिये मुझसे ही क्यों नहीं कहा—

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात्॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश॥

(वा० रा० २।१९।१०-११)

'महाराजकी आज्ञासे दूतगण अभी तेज घोड़ोंपर सवार होकर मामाजीके यहाँ भाई भरतको लानेके लिये जायँ। मैं पिताजीके वचन सत्य करनेके लिये बिना कुछ विचार किये चौदह वर्षके लिये दण्डकारण्य जाता हूँ। प्राणप्रिय भाई भरतका राज्याभिषेक हो, इससे अधिक प्रसन्नता मेरे लिये और क्या होगी? विधाता आज सब तरहसे मेरे अनुकूल है—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

धन्य है यह त्याग! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्यलिप्साका नाम नहीं और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार! इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाइयोंको छोड़कर राज्य, धन या सुखको अकेले कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। योग्यतावश कहीं ग्रहण करना ही पड़े तो उसमें भाइयोंका अपनेसे अधिक अधिकार समझना चाहिये, बल्कि यह मानना चाहिये कि उन्हीं लोगोंके लिये मैं इसे ग्रहण करता हूँ और यदि ऐसा मौका आ जाय कि जब भाइयोंको राज्य, धन, सुख मिलता हो और इसलिये अपनेको त्याग करना पड़े तो बहुत ही प्रसन्न होना चाहिये। अस्तु!

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्या और पत्नी सीतासे विदा माँगने गये।

श्रीरामने भरत या कैकेयीके प्रति कोई भी अपशब्द या विद्वेषमूलक शब्द नहीं कहा, बल्कि सीतासे आपने कहा—

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥

(वा० रा० २ । २६ । ३२-३३)

'मेरी अन्य माताओंको भी नित्य प्रणाम करना, क्योंकि मुझपर स्नेह करनेमें और मेरा लाड़-प्यार तथा पालन-पोषण करनेमें मेरी सभी माताएँ समान हैं। साथ ही तुम भरत-शत्रुघ्नको भी अपने भाई और बेटेके समान या उनसे भी विशेष समझना, क्योंकि वे दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।'

यहाँ विशेष आग्रह और प्रेमके कारण सीताजीको भी साथ चलनेकी अनुमति श्रीरामको देनी पड़ी, तब लक्ष्मणजीने भी साथ चलना चाहा। श्रीराम ऐसे तो पुरुष थे ही नहीं, जो अपने आरामके लिये लक्ष्मणसे कहते या उसे उभारते कि 'ऐसे अन्यायी राज्यमें रहकर क्या करोगे, तुम भी साथ चलो।' उन्होंने लक्ष्मणको घर रहनेके लिये बहुत समझाया, अनेक युक्तियोंसे यह चेष्टा की कि किसी तरह लक्ष्मण अयोध्यामें रहे, जिससे राज्य-परिवारकी सेवा-सम्हाल हो सके और लक्ष्मणको वनके कष्ट न भोगने पड़ें, परन्तु जब लक्ष्मणने किसी तरह नहीं माना तब उसको सुख पहुँचानेके लिये श्रीरामने साथ ले जाना स्वीकार किया।

श्रीराम छोटे भाई लक्ष्मण और सीतासहित वनको चले गये। वनमें लक्ष्मणजी श्रीराम-सीताकी हर तरह सेवा करते हैं और श्रीराम भी वही कहते और करते हैं जिससे श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मण सुखी हों।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं ।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं ॥

****

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें।
पलक बिलोचन गोलक जैसें॥

इससे यह सीखना चाहिये कि अपनी सेवा करनेवाले छोटे भाई और पत्नीको जैसे सुख पहुँचे, वैसे ही कार्य करने चाहिये तथा उनकी वैसे ही रक्षा करनी चाहिये जैसे पलकें आँखोंकी करती हैं।

× × ×

भरतके ससैन्य वनमें आनेका समाचार प्राप्तकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मणजी क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहने योग्य शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—'भाई ! भरतको मारनेकी बात तुम क्यों कहते हो, मुझे अपने बान्धवोंके नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला धन नहीं चाहिये, वह तो विषयुक्त अन्नके समान है—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिश्रृणोमि ते॥
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥
अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः॥

(वा० रा० २।९७।५-८ [illegible]

****

'हे लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथिवी तथा और जो कुछ चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये। हे लक्ष्मण ! मैं भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और सुखके लिये ही राज्य चाहता हूँ। हे मान देनेवाले भाई लक्ष्मण ! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय। हे पुरुषश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण ! मैं तो समझता हूँ मेरे प्राणप्यारे भ्रातृवत्सल भाई भरतने जब अयोध्यामें आकर यह सुना होगा कि मैं जटाचीर धारणकर तुम्हारे और जानकीके साथ वनमें चला गया हूँ तब वह कुलधर्मको स्मरण करके अति स्नेह और शोकके कारण व्याकुल तथा कातर होकर अप्रिय वचनोंसे माता कैकेयीको अप्रसन्न और पिता दशरथजीको प्रसन्न करता हुआ हमलोगोंके दर्शनके लिये तथा मुझे लौटाकर राज्य देनेके लिये ही आ रहा है।' वह मनसे भी कभी विपरीत आचरण नहीं कर सकता। यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा हो तो मैं भरतसे कहकर दिलवा दूँगा। तुम भरतके सम्बन्धमें भूल समझ रहे हो ! भाई भरतको कभी राज्यमद नहीं हो सकता—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।

निज जस जगत कीन्हि उजिआरी ॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ ।
पेम पयोधि मगन रघुराऊ ॥

श्रीराम भरतका गुणगान करते हुए प्रेमके समुद्रमें निमग्न हो गये ! लक्ष्मणजीको अपनी भूल मालूम हो गयी। यहाँ भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणके प्रति जो नीतियुक्त तीखे और प्रेमभरे वचन कहे, उनमें प्रधान अभिप्राय तीन समझने चाहिये। प्रथम, भरतके प्रति श्रीरामका परम विश्वास प्रकट करना, दूसरे, लक्ष्मणको यह चेतावनी देना कि तुम भरतकी सरलता, प्रेम, त्याग आदिको जानते हुए भी मेरे प्रेमवश प्रमादसे बालककी तरह ऐसा क्यों बोल रहे हो ? और तीसरे, उन्हें फटकारकर ऐसे अनुचित मार्गसे बचाना।

भरत आये और 'हे नाथ ! रक्षा करो' कहकर, दण्डकी तरह पृथ्वीपर गिर पड़े। सरलहृदय श्रीलक्ष्मणने भरतकी वाणी पहचानकर उन्हें श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते देखा, हृदयमें भ्रातृ-प्रेम उमड़ा परन्तु सेवा-धर्म बड़ा जबरदस्त है। लक्ष्मणजीका मन करता है कि भाई भरतको हृदयसे लगा लूँ, परन्तु फिर अपने कर्तव्यका ध्यान आता है तब श्रीराम-सेवामें खड़े रह जाते हैं।

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई ।
सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवापर भारू ।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥

आखिर सेवामें लगे रहना ही उचित समझा, परन्तु श्रीरामसे निवेदन किये बिना उनसे नहीं रहा गया—लक्ष्मणजीने सिर नवाकर प्रेमसे कहा—

भरत प्रनाम करत रघुनाथा ।

भगवान् तो भरतका नाम सुनते ही विह्वल हो गये और प्रेममें अधीर होकर उन्हें उठाकर गले लगानेको उठ खड़े हुए। उस समय श्रीरामकी कैसी दशा हुई—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

यहाँ चारों भाइयोंका परस्पर प्रेम देखकर सभी मुग्ध हो गये। भरतकी विनय, नम्रता, साधुता और रामभक्ति देखकर तो लोग तन-मनकी सुधि भूल गये। श्रीरामको पिताके मरण-संवादसे बड़ा दुःख हुआ। यथोचित शास्त्रोक्त विधिसे क्रिया करनेके बाद समाज जुड़ा। भरतने भाँति-भाँतिसे अनेक युक्तियाँ दिखलाकर श्रीरामको राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की। वसिष्ठादि ऋषियोंने, मन्त्री, पुरवासी और माताओंने भी भरतका साथ दिया। जब भगवान् श्रीरामने किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया तो भरतजीने कहा कि मैं अनशनव्रत रखकर प्राण दे दूँगा। इसपर श्रीरामने उन्हें पहले तो धरना देनेके लिये फटकारा, फिर विविध भाँतिसे समझाकर शान्त किया और अन्तमें चरणोंमें पड़े रोते हुए भरतको अपने हाथोंसे खींचकर गोदमें बैठा लिया और प्रेमवश कहने लगे—

हे भरत! मुझे वनवाससे लौटाकर राज्याभिषेक करानेके लिये तुमको जो बुद्धि हुई है सो स्वाभाविक ही है, यह गुरुसेवाद्वारा प्राप्त विनय-विवेकका फल है। इस श्रेष्ठ बुद्धिके कारण तुम समस्त पृथिवीका पालन कर सकते हो, परन्तु—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

(वा० रा० २।११२।१८)

'चन्द्रमा चाहे अपनी श्री त्याग दे, हिमालय हिमको छोड़ दे, समुद्र मर्यादाका उल्लङ्घन कर दे, पर मैं पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य किये बिना घर नहीं लौट सकता।'

****

श्रीगोसाईंजीने लिखा है कि श्रीरामने अन्तमें प्रेमविवश होकर भरतजीसे कहा कि—

भैया ! तुम दुःख न करो, जीवकी गति ईश्वराधीन है, हे भाई ! मेरी समझसे तो तीनों काल और तीनों लोकोंमें जितने पुण्यश्लोक पुरुष हैं वे सब तुमसे नीचे हैं। तुमको जो मनमें भी कुटिल समझेगा, उसके लोक-परलोक बिगड़ जायँगे, माता कैकेयीको भी वही लोग दोष देंगे, जिन्होंने गुरु और साधुओंका संग नहीं किया है। मैं शिवको साक्षी देकर सत्य कहता हूँ कि भाई ! अब यह पृथ्वी तुम्हारे रखे ही रहेगी। तुम अपने मनमें कुछ भी शंका न करो। हे प्यारे ! देखो, महाराजने मुझको त्याग दिया, प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये शरीर भी छोड़ दिया, परन्तु सत्य नहीं छोड़ा। इसलिये मुझको उनके वचन टालनेमें बड़ा संकोच हो रहा है, परन्तु उससे भी बढ़कर मुझे तुम्हारा संकोच है, गुरुजी भी कहते हैं, अतः अब सारा भार तुमपर है, तुम जो कुछ कहो, मैं वही करनेको तैयार हूँ—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

'सोच छोड़कर प्रसन्न मनसे आज तुम जो कुछ कह दोगे वही करनेको तैयार हूँ यानी मुझे सत्य बहुत प्यारा है, परन्तु उससे भी बढ़कर तुम प्यारे हो। तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ।' इससे अधिक भ्रातृप्रेम और क्या होगा ? जिस सत्यके लिये पिता-माताकी परवा नहीं की, आज अनायास वही सत्य, लौटानेके लिये आये हुए, भाई भरतके प्रेमपर छोड़ दिया गया !

भरतजी भी तो श्रीरामके ही भाई थे। उन्होंने बड़े भाई श्रीरामका अपने ऊपर इतना प्रेम देखकर उन्हें संकोचमें डालना नहीं चाहा और बोले कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

'जो दास अपने मालिकको संकोचमें डालकर अपना कल्याण चाहता है उसकी बुद्धि बड़ी ही नीच है। मैं तो आपके राजतिलकके लिये साम:

****

लाया था परन्तु अब—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

प्रभु निःसंकोच होकर प्रसन्नतासे जिसको जो आज्ञा देंगे वह उसीको सिर चढ़ाकर करेगा, जिससे सारी उलझन आप ही सुलझ जायगी। अन्तमें श्रीरामने फिर कहा—'भैया! तुम मन, वचन, कर्मसे निर्मल हो, तुम्हारी उपमा तुम्हीं हो, बड़ोंके सामने छोटे भाईके गुण इस कुसमयमें कैसे बखानूँ? भाई! तुम अपने सूर्यवंशकी रीति, पिताजीकी कीर्ति और प्रीति जानते हो और भी सारी बातें तुमपर विदित हैं। अवश्य चौदह वर्षतक तुमको बहुत कष्ट होगा—

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

'हे प्यारे! मैं तुम्हारे हृदयकी कोमलता जानता हुआ भी तुम्हें यह कठोर वचन कह रहा हूँ परन्तु क्या करूँ? यह समय ही ऐसा है, इस समयके लिये यही उचित है, जब बुरा समय आता है तब भले भाई ही काम आते हैं, तलवारके वारको बचानेके लिये अपने ही हाथकी आड़ करनी पड़ती है।'

भगवान्‌के इन प्रेमपूर्ण रहस्यके वचनोंको सुनते ही भरत श्रीरामके रुखको भलीभाँति समझ गये। उनका विषाद दूर हो गया; परन्तु चौदह साल निराधार जीवन रहेगा कैसे? अतः—

सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

—भगवान्‌ने उसी समय भरतजीके इच्छानुसार अपनी चरणपादुका परम तेजस्वी महात्मा भरतजीको दे दी। भरतजी पादुकाओंको प्रणामकर मस्तकपर धारणकर अयोध्या लौट गये।

× × ×

श्रीरामने कुछ समयतक चित्रकूटमें निवास किया, फिर ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते-घूमते पञ्चवटीमें आये। वहाँ कुछ समय रहे। वनमें रहते समय भगवान् प्रतिदिन ही लक्ष्मणजीको भाँति-भाँतिसे ज्ञान, भक्ति, वैराग्यका उपदेश किया करते। एक दिन उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

इस प्रकार सत्-चर्चा और परम रहस्यके वार्तालापमें ही समय बीतता था। भाईपर इतना प्रेम था कि श्रीराम उन्हें हृदय खोलकर अपना रहस्य समझाते थे।

× × ×

सीता-हरण हुआ, लङ्कापर चढ़ाई की गयी और भयानक युद्ध आरम्भ हो गया। एक दिन शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणके घायल हो जानेपर श्रीरामने भाईके लिये जैसी विलाप-प्रलापकी लीला की, उससे पता लगता है कि छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति श्रीरामका कितना अधिक स्नेह था।

श्रीराम कहने लगे—

किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः॥
यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥

(वा० रा० ६। १०१। १२-१३)

'अब मुझे युद्धसे या जीवनसे क्या प्रयोजन है? जब कि प्यारा भाई लक्ष्मण निहत होकर रणभूमिमें सो चुका है, युद्धका कोई काम नहीं है। भाई

****

जिस प्रकार महातेजस्वी तुम मेरे साथ वनमें आये थे उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ परलोकमें जाऊँगा।' गोसाईंजी लिखते हैं—

श्रीराम प्रलाप करते हुए कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही।
जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कवन मुहु लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥

****

सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी ।
सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई ।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन ।
स्त्रवत सलिल राजिव दल लोचन ॥*

जो भाई अपने लिये घर-द्वार छोड़कर मरनेको तैयार है, उसके लिये विलाप किया जाना उचित ही है, परन्तु श्रीरामने तो विलापकी पराकाष्ठा कर भ्रातृप्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है।

श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा संजीवनी लानेपर लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गये। राम-रावण-युद्ध समाप्त हुआ। सीता-परीक्षाके अनन्तर श्रीराम सबको साथ लेकर पुष्पक-विमानके द्वारा अयोध्या लौटनेकी तैयारीमें हैं। इसी समय विभीषण

---

* यह भगवान् श्रीरामकी प्रलाप-लीला मानी जाती है, प्रलापमें कुछ-का-कुछ कहा जाना ही स्वाभाविक है। 'प्रभु प्रलाप सुनि कान' आगेके दोहेके इस वाक्यसे भी प्रलाप ही सिद्ध होता है। भगवान् शिवके इन वचनोंसे कि 'उमा अखंड एक रघुराई। 'नर गति' भगत कृपालु देखाई॥' से भी साधारण मनुष्यवत् प्रलाप ही ठहरता है। इससे अर्थान्तर करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो उपर्युक्त चौपाइयोंमें—'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहि ओहू॥' इस चौपाईका अर्थ यह करना चाहिये कि यदि मैं जानता कि वनमें बन्धुओंसे बिछोह होगा तो मैं (पिता बचन मनतेउँ) पिताके वचन मानकर वनमें तो आता, परन्तु ('नहि ओहू') लक्ष्मणका आग्रह स्वीकार कर उसे वनमें साथ नहीं लाता।

इसी प्रकार 'निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥' इस चौपाईका अर्थ यों करना चाहिये कि मैं जैसे अपनी माताका प्यारा इकलौता बेटा हूँ वैसे ही अपनी माता सुमित्राके तुम प्राणाधार हो।

इस चौपाईका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'मैं अपनी माताके एक ही लड़का हूँ और तुम उसके (मेरे) प्राणाधार हो अर्थात् तुम्हारे जीवनसे ही मेरा जीवन है।'

प्रार्थना करने लगे—

'भगवन् ! यदि मैं आपके अनुग्रहका पात्र हूँ, यदि आप मुझपर स्नेह करते हैं तो मेरी प्रार्थना है—आप कुछ समयतक यहाँ रहें, लक्ष्मण और सीतासहित आपकी मैं पूजा करना चाहता हूँ। आप अपनी सेना तथा मित्रोंसहित घर पधारकर उसको पवित्र करें और यत्किञ्चित् सत्कार स्वीकार करें। मैं आपके प्रति आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्नेह-सम्मान और मित्रताके कारण एक सेवककी भाँति आपको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा रखता हूँ।' (वा० रा० ६ । १२१ । १२—१५) विनयका क्या ही सुन्दर सीखनेयोग्य तरीका है !

श्रीरामने उत्तरमें कहा—

न खल्वेतन्न कुर्यां ये वचनं राक्षसेश्वर ।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः ॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः ।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया ॥

(वा० रा० ६ । १२१ । १८-१९)

'हे राक्षसेश्वर ! मैं इस समय तुम्हारी बात नहीं मान सकता, मेरा मन भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है, जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटानेके लिये विनीत प्रार्थना की थी और मैंने उसको स्वीकार नहीं किया था।' मित्रवर ! तुम मेरी इस प्रार्थनापर दुःख न करना।

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात ।
भरतदसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात ॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि ।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि ॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर ।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर ॥

विभीषण नहीं रोक सके, विमानपर सवार होकर चले। भगवान्ने अपने

****

आनेका संवाद हनूमान्‌के द्वारा भरतजीके पास पहलेसे ही भेजकर उन्हें सुख पहुँचाया।

तदनन्तर अनन्तशक्ति भगवान् श्रीराम अयोध्या पहुँचकर क्षणमें लीलासे ही सबसे मिल लिये।

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

भरतके साथ भगवान्‌का मिलन तो अपूर्व आनन्दमय है। फिर शत्रुघ्नसे मिलकर उनका विरह-दुःख नष्ट किया। राजतिलककी तैयारी हुई। स्नान-मार्जन होने लगा। श्रीराम भी भाइयोंकी वात्सल्यभावसे सेवा करने लगे। भरतजी बुलाये गये, श्रीरामने अपने हाथोंसे उनकी जटा सुलझायी। तदनन्तर तीनों प्राणप्रिय भाइयोंको श्रीरामने स्वयं अपने हाथसे मल-मलकर नहलाया। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न पितृ-तुल्य श्रीरामके इस वात्सल्यभावसे मुग्ध हो गये।

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपालु रघुराई॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई॥

शिवजी कहते हैं कि भरतजी (आदि भाइयों)के भाग्य और प्रभुकी कोमलताका बखान सौ करोड़ शेषजी भी नहीं कर सकते। धन्य भ्रातृ-प्रेम!

भगवान् श्रीराम तीनों भाइयोंसे सेवित होकर राज्य करने लगे। राम-राज्यकी महिमा कौन गा सकता है? भगवान् समय-समयपर अपनी प्रजाको इकट्ठाकर उन्हें विविध भाँतिसे लोक-परलोकमें उन्नति और कल्याणके साधनोंके सम्बन्धमें शिक्षा देते हैं। ऐसा न्याय और दयापूर्ण शासन, सुन्दर बर्ताव, प्रेमभाव, लोक-परलोकमें सुख पहुँचानेवाली तथा मुक्तिदायिनी शिक्षा,

सब प्रकारके सुख रामराज्यके अतिरिक्त अबतक अन्य किसी भी राज्यमें कभी देखे, सुने या पढ़े नहीं गये !

× × ×

समय-समयपर भाइयोंको साथ लेकर श्रीराम वन-उपवनोंमें जाते हैं, भाँति-भाँतिके शिक्षाप्रद उपदेश करते हैं। एक समय सब उपवनमें गये। भरतजीने श्रीरामके लिये अपना दुपट्टा बिछा दिया, भगवान् उसपर विराजे, तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा भरतजीके प्रश्न करनेपर श्रीरामने सन्त-असन्तके लक्षण बतलाते हुए अन्तमें बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर ॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा ॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना ॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता ॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने ॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक ॥

कैसा सुन्दर सबके ग्रहण करनेयोग्य उपदेश है ! ऐसे बड़े भाई अनन्त पुण्य-बलसे ही प्राप्त होते हैं !

× × ×

आगे चलकर लवणासुरको मारनेके लिये शत्रुघ्नके कहनेपर श्रीरामने उन्हें रणाङ्गणमें भेजना स्वीकारकर कहा कि 'वहाँका राज्य तुम्हें भोगना पड़ेगा। मेरी आज्ञाका प्रतिवाद न करना।' शत्रुघ्नको राज्याभिषेककी बात बहुत बुरी लगी परन्तु रामाज्ञा समझकर उसे स्वीकार करना पड़ा। न चाहनेपर भी छोटे भाईको वचनोंमें बाँधकर राज्यसुख देना, राम-सरीखे बड़े भाईका ही कार्य है।

इसके बाद लक्ष्मण-त्यागका प्रश्न आता है, कुछ लोग इसको श्रीरामका

बड़ा ही निष्ठुर कार्य समझते हैं। जिस भाईने राज्य और राजाको दारुण ऋषि-शापसे बचाया, उसके लिये पुरस्काररूपमें भी पहलेका विधान बदल देना उचित था, परन्तु ऐसा कहनेवाले लोग इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ हैं, इसी सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने लक्ष्मणका त्याग कर दिया, परन्तु प्यारे भाई लक्ष्मणका वियोग होते ही आप भी भरत, शत्रुघ्न और प्रजा-परिजनोंको साथ लेकर परमधामको प्रयाण कर गये !

श्रीरामके भ्रातृ-प्रेमका यह अति संक्षिप्त वर्णन है। श्रीरामकी भ्रातृवत्सलताका इससे कुछ अनुमान हो सकता है। भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाईको राज्य मिलनेके प्रस्तावसे अपना हक छोड़कर परम आनन्दित होना, जिसके कारण राज्याभिषेक रुका उस भाई भरतकी माता कैकेयीपर भक्ति करना, भरतका गुण-गान करना, धरना देनेके समय भरतको और भरतपर क्रोध करनेके समय लक्ष्मणको फटकार बताकर अन्याय-मार्गसे बचाना, भरतकी इच्छापर अपने सत्यव्रतको भी छोड़ देना, लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेपर उनके साथ प्राणत्याग करनेको तैयार हो जाना, समय-समयपर सदुपदेश देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर समभावसे पूर्ण प्रेम करना और लवणासुरपर आक्रमणके समय जबरदस्ती राज्याभिषेकके लिये शत्रुघ्नसे स्वीकार कराना आदि श्रीरामके आदर्श भ्रातृ-प्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीभरतका भ्रातृ-प्रेम

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

भरतजीकी अपार महिमा है। रामायणमें भरतजीका ही एक ऐसा उज्ज्वल चरित्र है जिसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजी

ता, नीतिज्ञ, त्यागी, सद्गुणोंसे युक्त, संयमी, सदाचारी, प्रेम और मूर्ति, श्रद्धा-भक्ति-सम्पन्न और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, शान्ति, सरलता, गम्भीरता, सौम्यता, समता, मधुरता, अमानिता, सुहृदता और स्वामिसेवा आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति थे।

श्रीराम-वनवास अच्छा ही हुआ, जिससे भरतजीका उच्च प्रेम-भाव जगत्में प्रकट हो गया। राम-वियोग न होता तो विश्वको इस अतुल प्रेमकी सुधा-धारामें अवगाहन करनेका सुअवसर शायद ही मिलता।

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

'गम्भीर समुद्ररूप भरतजीको अपने वनवासरूपी मन्दराचलपर्वतसे मथकर कृपासिन्धु रघुनाथजीने सुर-सन्तोंके हितार्थ प्रेमरूपी अमृतको प्रकट किया है।'

श्रीराम-वनवास और दशरथजीकी मृत्यु होनेपर गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे भरत-शत्रुघ्नको बुलानेके लिये केकयदेशको दूत जाते हैं। उधर भरतजीको दुःस्वप्न होता है, जिससे वे व्याकुल हो जाते हैं और माता-पिता तथा भाई-भौजाईकी मङ्गलकामनासे दान-पुण्य करते हैं। दूतोंने जाकर गुरुका सन्देश सुना दिया। भरतजीने कुशल पूछी, जिसके उत्तरमें दूतोंने भी मानो व्यङ्गसे ही कहा कि 'आप जिनकी कुशल पूछते हैं वे कुशलसे हैं।' भरतजी उसी दिन चल पड़े। अयोध्यामें पहुँचकर उसे श्रीहीन देख बड़े दुःखित हुए, उनका हृदय परिवारकी अनिष्ट-आशङ्कासे भर गया, न तो किसीसे कुछ पूछनेकी हिम्मत हुई और न किसीने कुछ कहा ही। लोग तो उस समय भरतजीको राम-वनवास और दशरथकी मृत्युमें हेतु समझकर बहुत ही बुरी दृष्टिसे देखते थे, अतः उनसे कोई अच्छी तरह बोलता ही कैसे? आगे चलकर प्रजाने साफ कहा है—

****

मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ।
भरते सन्निबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा ॥

(वा० रा० २।४८।२८)

'झूठा बहाना करके कैकेयीने श्रीरामको सीता-लक्ष्मणसहित वनमें भेज दिया है। अब हमलोग उसी प्रकार भरतके अधीन हैं, जैसे कसाईके अधीन पशु होते हैं।'

लोग सामने आते हैं और दूरसे ही जुहार करके मुँह फेरकर चले जाते हैं—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवहिं जोहारहिं जाहिं ।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं ॥

घबराये हुए भरतजी पिताकी खोजमें माता कैकेयीके महलमें पहुँचे और 'पिता कहाँ हैं ?' ऐसा पूछने लगे, कैकेयी अपने कियेपर फूली नहीं समाती थी, वह समझती थी कि भरत भी मेरी कृति सुनकर राजी होंगे, अतः उसने कठोर बनकर झटसे कह दिया—

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः ॥

(वा० रा० २।७२।१५)

'सब भूत-प्राणियोंकी अन्तमें जो गति होती है वही तुम्हारे पिताकी भी हुई। महात्मा, तेजस्वी और यज्ञ करनेवाले राजाने सत्पुरुषोंकी गति प्राप्त की है।'

यह सुनते ही भरत शोकपीड़ित हो 'हाय ! मैं मारा गया' पुकारकर सहसा पछाड़ खाकर पृथिवीपर गिर पड़े। भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए कहने लगे, 'हाय पिताजी ! मुझे दुःखसागरमें छोड़कर कहाँ चले गये'—

असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः ।

(अध्यात्मरा० २।७।६७)

'हे पिता ! मुझे राजा रामके हाथोंमें सौंपे बिना ही आप कहाँ चले गये ?' कैकेयीने विलाप करते हुए भरतको उठाकर उसके आँसू पोंछे और

कहा कि 'बेटा! धीरज रखो, मैंने तुम्हारे लिये सब काम बना रखा है—**समाश्वसिहि भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया ॥** (अध्यात्मरा० २।७।६८) परन्तु भरतजीका रोना बन्द नहीं हुआ, उन्होंने कहा—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥
धर्मविद्धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः।
आर्ये किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः॥
पश्चिमं साधुसन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः।

(वा० रा० २।७२।३२—३५)

'यह तो मुझे शीघ्र बता कि सरल आचरण और स्वभाववाले मेरे पिता-तुल्य बड़े भाई वह श्रीरघुनाथजी कहाँ हैं, जिनका मैं प्रिय दास हूँ? मैं उनके चरण-वन्दन करूँगा, क्योंकि अब वे ही मेरे अवलम्ब हैं। आर्य-धर्मके जाननेवाले लोग बड़े भाईको पिताके सदृश समझते हैं। माता! यह भी बतला कि धर्मज्ञ, दृढव्रत, धर्मशील, महाभाग और सत्यपराक्रमी मेरे पिता राजा दशरथने अन्त समयमें मेरे लिये क्या कहा था, मैं उनका अन्तिम शुभ सन्देश सुनना चाहता हूँ।' उत्तरमें कैकेयीने कहा—

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः॥
इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः॥
सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम्॥

(वा० रा० २।७२।३६—३८)

'बेटा ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता अन्तकालमें 'हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सीते !' पुकारते हुए परलोक सिधारे हैं। हाथी जिस प्रकार पाशमें बँधकर विवश हो जाता है उसी प्रकार काल-पाशसे बँधकर तेरे पिताने केवल यही कहा था कि 'अहो ! सीताके साथ लौटकर आये हुए श्रीराम-लक्ष्मणको जो मनुष्य देखेंगे वही कृतार्थ होंगे।'

यह सुनते ही भरतजीके दुःखकी सीमा न रही।

तामाह भरतो हेऽम्ब रामः सन्निहितो न किम्।
तदानीं लक्ष्मणो वापि सीता वा कुत्र ते गताः॥

(अध्यात्मरा० २।७।७१)

भरतजीने पूछा—'माता ! क्या उस समय श्रीरामजी, लक्ष्मण या सीताजीमेंसे कोई भी नहीं था, वे सब कहाँ चले गये थे ?'

अब वज्रहृदया कैकेयीने सारी कहानी सुनाते हुए कहा कि—

रामस्य यौवराज्यार्थं पित्रा ते सम्भ्रमः कृतः।
तव राज्यप्रदानाय तदाहं विघ्नमाचरम्॥
राज्ञा दत्तं हि मे पूर्वं वरदेन वरद्वयम्।
याचितं तदिदानीं मे तयोरेकेन तेऽखिलम्॥
राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम्।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि॥
रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता॥
सौभ्रात्रं दर्शयन्राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन्॥
प्रलपन् रामरामेति ममार नृपसत्तमः।

(अध्यात्मरा० २।७।७२-७७)

'तुम्हारे पिताने रामके राज्याभिषेककी बड़ी तैयारी की थी, परन्तु तब तुम्हें

राज्य दिलानेके अभिप्रायसे मैंने उसमें विघ्न डाल दिया। वरदानी राजाने पूर्वमें मुझे दो वर देनेको कह रखा था, उनमेंसे एकसे मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरेसे रामके लिये मुनिव्रतधारणपूर्वक चौदह सालका वनवास माँगा। तब तुम्हारे पिता सत्यपरायण राजाने तुम्हें राज्य दे दिया और रामको वन भेज दिया। पतिव्रता सीता भी रामके साथ वन चली गयी और सच्चा भ्रातृत्व दिखाकर लक्ष्मण भी उन्हींके पीछे चल दिये। उन लोगोंके वन जानेपर उन्हींका चिन्तन करते हुए और 'हा राम, हा राम' पुकारते हुए महाराजा भी परलोक सिधार गये।'

कैकेयीके इन वचनोंसे मानो भरतजीपर वज्रपात हो गया। वे पिताकी मृत्युको तो भूल गये और अपने हेतुसे श्रीरामका वनगमन सुनते ही सहम गये, पके हुए घावपर मानो आग-सी लग गयी।

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥
सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥

भरतजी व्याकुल हो उठे और दारुण शोकमें सारी सुध-बुध भूलकर माताको धिक्कारकर चिल्लाते हुए कहने लगे—

'अरी क्रूरे! तू राज्य चाहनेवाली माताके रूपमें मेरी शत्रु है, तू पति-घातिनी और कुल-घातिनी है, तू धर्मात्मा अश्वपतिकी कन्या नहीं है, उनके कुलका नाश करनेवाली राक्षसी पैदा हुई है। तू जानती नहीं कि श्रीरामके प्रति मेरा कैसा भाव है, इसीसे तूने यह अन्याय किया है। मैं राम-लक्ष्मणको छोड़कर किसके बलपर राज्य करूँगा? तूने मेरे धर्मात्मा पिताका नाश कर दिया और मेरे भाइयोंको गली-गली भीख माँगनेके लिये भेजा है, एकपुत्रा कौसल्याको पुत्रवियोगका दुःख दिया है, जा तू नरकमें पड़। तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। अरी दुष्टे! तू धर्मसे पतित है, भगवान् करें मैं मर जाऊँ और तू मेरे

****

लिये रोया करे ! मैं इस समस्त राज्यको भाईके प्रति अर्पण कर दूँगा, जा तू अग्निमें प्रवेश कर जा, जंगलमें निकल जा या गलेमें रस्सीकी फाँसी लगाकर मर जा। मैं सत्यपराक्रम रामको राज्य देकर ही अपना कलङ्क धोऊँगा और अपनेको कृतकृत्य समझूँगा।'

(वा० रा० २।७४)

भरतजीने राम-प्रेममें नीति भूलकर शत्रुघ्नसे यहाँतक कह डाला कि—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥

(वा० रा० २।७८।२२)

'हे भाई ! इस दुष्ट आचरणवाली पापिनी कैकेयीको मैं मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीराम मातृहत्यारा समझकर मुझसे घृणा न करते।'

आखिर भरतजीने माताका मुँह देखनातक पाप समझा और बोले कि—

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥

× × ×

इतनेमें कुबड़ी मन्थरा इनाम पानेकी आशासे सज-धजकर आयी। उसे देखते ही शत्रुघ्नजीका क्रोध बढ़ा, वे लगे उसे इनाम देने, परन्तु दयालु भरतजीने छुड़ा दिया। इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास पहुँचे और उनकी दयनीय दशा देखकर व्याकुल हो उठे। कौसल्याजीने भी कैकेयीपुत्रके नाते भरतपर सन्देह करके कुछ कटु शब्द कहे। कौसल्याजीके कटु वचनोंसे भरतका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मूर्च्छित होकर उनके चरणोंमें गिर पड़े, जब होशमें आये तब ऐसी-ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिनसे माताका हृदय पसीज गया। भरतने कहा—

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि॥

****

पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम्।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम्॥

(अध्यात्मरा० २।७।८८-८९)

'माता! श्रीरामके राज्याभिषेकके विषयमें तथा वनगमनके विषयमें कैकेयीने जो कुकर्म किया है, उसमें यदि मेरी सम्मति हो या मैं उसे जानता भी होऊँ तो मुझे सौ ब्रह्महत्याका पाप लगे और वह पाप भी लगे जो गुरु वसिष्ठजीकी अरुन्धतीजी सहित तलवारसे हत्या करनेमें लगता है।'

कौसल्याने गद्गद होकर निर्दोष भरतको गोदमें बिठा लिया और उसके आँसू पोंछकर कहने लगी—'बेटा! मैंने शोकमें विकल होकर तुझपर आक्षेप कर दिया था। मैं जानती हूँ—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं।
सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाये॥

भरतजीके राम-प्रेमका पता कौसल्याके इन वचनोंसे खूब लगता है। भरतका चरित्रबल और चिर-आचरित भ्रातृ-प्रेम ही था जिसने इस अवस्थामें भी कौसल्याके द्वारा भरतको भ्रातृ-प्रेमका ऐसा जोरदार सर्टिफिकेट दिलवा दिया।

× × ×

****

पिताकी शास्त्रोक्त और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद राज-सभामें गुरु, मन्त्री, प्रजा और माताओंने यहाँतक कि माता कौसल्याने भी भरतको राजसिंहासन स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया, परन्तु भरत किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए। उन्होंने अटलरूपसे कह दिया—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
आन उपाउ मोहि नहिं सूझा।
को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं।
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

भरतके प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये। राम-दर्शनके लिये वनगमनका निश्चय हुआ। सभी चलनेको तैयार हो गये। रामदर्शन छोड़कर घरमें कौन रहता?

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी।
सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू।
को न चहइ जग जीवन लाहू॥

****

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ ॥

भरतजीने भगवान् रामकी सम्पत्तिकी रक्षा करना कर्तव्य समझकर जिम्मेवार कर्तव्यपरायण रक्षकोंको नियुक्त कर दिया और अयोध्यावासी नर-नारी चल पड़े। उस समय भरतके साथ नौ हजार हाथी, साठ हजार धनुर्धारी, एक लाख घुड़सवार थे। इसके सिवा रथों, माताओं और ब्राह्मणियोंकी पालकियों एवं सदाचारी ब्राह्मणोंकी तथा कारीगरों एवं सामानकी बैलगाड़ियोंकी गिनती ही नहीं थी।

भरतजीने वन जाते हुए मनमें सोचा—'श्रीराम, सीता और लक्ष्मण पैदल ही नंगे पाँव वन-वन घूमते हैं और मैं सवारीपर चढ़कर उनसे मिलने जा रहा हूँ, मुझे धिक्कार है।' यह विचारकर भरत और शत्रुघ्न पैदल हो लिये। दोनों भ्रातृभक्त भाइयोंको पैदल चलते देखकर अन्य लोग भी मुग्ध होकर सवारियोंसे उतरकर पैदल चलने लगे—

देखि सनेहु लोग अनुरागे।
उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥

यह देखकर माता कौसल्याने अपनी डोली भरतके पास ले जाकर मधुर वचनोंमें कहा—

तात चढ़हु रथ बलि महतारी।
होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू।
सकल सोक कृस नहिं मग जोगू ॥

माता कौसल्याकी आज्ञा मानकर भरतजी रथपर चढ़ गये। चलते-चलते शृङ्गवेरपुर पहुँचे। यहाँ निषादराजने भी भरतपर सन्देह किया, परन्तु परीक्षा करके भरतका आचरण देख वह मन्त्रमुग्धकी भाँति भरतकी सेवामें लग गया। इङ्गुदीके पेड़के नीचे जहाँ श्रीरामने 'कुश-किसलय'की शय्यापर लेटकर

****

रात बितायी थी, गुहके द्वारा उस स्थानको देखकर भरतकी विचित्र दशा हो गयी ! वे भाँति-भाँतिसे विलापकर कहने लगे 'हा ! यह बिखरी हुई पत्तोंकी शय्या क्या उन्हीं श्रीरामकी है जो सदा आकाशस्पर्शी राजप्रासादमें रहनेके अभ्यासी हैं। जिनके महल सदा पुष्पों, चित्रों और चन्दनसे चर्चित रहते हैं, जिनके महलका ऊँचा चूड़ा नृत्य करनेवाले पक्षियों और मयूरोंका विहारस्थल है, जिसकी सोनेकी दीवारोंपर विचित्र चित्रकारीका काम किया हुआ है, वही स्वामी राम क्या इसी इङ्गुदी पेड़के नीचे रहे हैं ? हा ! इस अनर्थका कारण मैं ही हूँ—

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥

(वा० रा० २। ८८। १७—१९)

'हाय ! मैं कितना क्रूर हूँ, हा ! मैं मारा गया, क्योंकि मेरे ही कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताजीके साथ ऐसी कठिन शय्यापर अनाथकी भाँति सोना पड़ा। अहो ! चक्रवर्तीकुलमें उत्पन्न हुए, सबको सुख देनेवाले, सबका प्रिय करनेवाले, कमनीय कान्ति, नील कमलके समान कान्तिवाले, रक्ताक्ष, प्रियदर्शन जो सदा ही सुख भोगनेके योग्य तथा इस दुःख-भोगके अयोग्य हैं, वे राघव अति उत्तम प्रिय राज्यको त्यागकर भूमिपर कैसे सोये !'

तदनन्तर भरतजीने उस कुश-शय्याकी प्रणाम-प्रदक्षिणा की—

कुस साँथरी निहारि सुहाई।
कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई।

बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे ।
राखे सीस सीय सम लेखे ॥

यहाँसे भरतजी फिर पैदल चलने लगे, जब सेवकोंने घोड़ेपर सवार होनेके लिये विशेष आग्रह किया तब आप कहने लगे—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए ।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा ।
सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

भाई ! मुझे तो सिरके बल चलना चाहिये; क्योंकि जहाँ रामके चरण टिके हैं वहाँ मेरा सिर ही टिकना योग्य है। सीताराम-सीतारामका कीर्तन करते हुए भरतजी प्रयाग पहुँचे। उनके पैरोंके छाले कमलके पत्तोंपर ओसकी बूँदोंके समान चमकते हैं—

झलका झलकत पायन्ह कैसें ।
पंकज कोस ओस कन जैसें ॥

तदनन्तर महाराज भरतजी मुनि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। परस्पर शिष्टाचारके उपरान्त भरद्वाजजीने भी भरतके हृदयपर मानो गहरा आघात करते हुए उनसे पूछा—

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥

(वा० रा० २।९०।१३)

'क्या तुम उन पापहीन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणका वधकर निष्कण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे तो वनमें नहीं जा रहे हो ? भरद्वाजजीके इन वचनोंसे भरतजीका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। वे कातर-कण्ठसे रोते हुए बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते ।

(वा० रा० २।९०।१५)

****

'भगवन्! यदि त्रिकालदर्शी होकर आप भी ऐसा ही मानते हैं तब तो मैं मारा गया।'

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्यविघातनम्॥
वनवासादिकं वापि न हि जानामि किञ्चन।
भवत्पादयुगं मेऽद्य प्रमाणं मुनिसत्तम॥
इत्युक्त्वा पादयुगलं मुनेः स्पृष्ट्वाऽऽर्त्तमानसः।
ज्ञातुमर्हसि मां देव शुद्धो वाशुद्ध एव वा॥
मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः॥

(अध्यात्मरा० २।८।४६-४९)

'हे मुनिश्रेष्ठ! कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेके लिये जो कुछ किया या राम-वनवासादिके सम्बन्धमें जो कुछ हुआ, इस विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता, इस सम्बन्धमें आपके चरणयुगल ही मेरे लिये प्रमाण हैं।' इतना कह मुनिके दोनों चरणोंको पकड़कर भरतजी कहने लगे—'हे देव! मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध, इस बातको आप भलीभाँति जान सकते हैं। हे स्वामिन्! श्रीरामजीके राजा रहते मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है, मैं तो सदा-सर्वदा श्रीरामका एक किंकर हूँ।'

इसपर भरद्वाजजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हारी सब बातें जानता था, मैंने तो तुम्हारे भाव दृढ़ करने और तुम्हारी कीर्ति बढ़ानेके लिये ही तुमसे ऐसा पूछ लिया था। वास्तवमें तुम्हारे समान बड़भागी दूसरा कौन है, जिसका जीवन-धन-प्राण श्रीरामके चरणकमल हैं—

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना।
भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।
पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥

****

लखन राम सीतहि अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥

मैं जानता हूँ तुम राम, सीता, लक्ष्मणको अत्यन्त प्यारे हो, वे जब यहाँ ठहरे थे तो रातभर तुम्हारी ही प्रशंसा कर रहे थे। तुम तो भरत! मानो श्रीराम-प्रेमके शरीरधारी अवतार हो।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।
धरें देह जनु राम सनेहू॥

हे भरत! सुनो, हम तपस्वी उदासी वनवासी हैं, तुम्हारी खातिरसे झूठ नहीं बोलते, हमारी समझसे तो हमारा समस्त साधनाओंके फलस्वरूप हमें श्रीराम-सीता और लक्ष्मणके दर्शन मिले थे और अब श्रीरामदर्शनके फलस्वरूप तुम्हारे दर्शन हुए हैं, सारे प्रयागनिवासियोंसहित हमारा बड़ा सौभाग्य है—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ।
कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ॥

इसके अनन्तर भरद्वाज मुनिने सिद्धियोंके द्वारा परम सम्मान्य अतिथि भरतजीका आतिथ्य-सत्कार किया, सभी प्रकारकी विलास-सामग्री उत्पन्न हो गयी। सब लोग अपने-अपने इच्छानुसार खान-पान और भोगादिमें लग गये, परन्तु भरतजीको रामके बिना कहीं चैन नहीं है, वे किसी भी प्रलोभनमें नहीं आ सकते।

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

'भरद्वाजजीकी सिद्धियोंद्वारा उत्पन्न सम्पत्ति मानो चकई है और भरतजी चकवा हैं, मुनिकी आज्ञा बहेलिया है, जिसने रातभर भरतजीको आश्रमरूपी पिंजरेमें बन्द कर रखा और इसी प्रकार सबेरा हो गया।' चकई-चकवा रातको नहीं मिल सकते। इसी तरह विलास-सामग्री और भरतजीका (आश्रमरूपी पिंजरेमें) एक साथ रहनेपर भी मिलाप नहीं हुआ। धन्य त्यागपूर्ण भ्रातृप्रेम!

× × × ×

****

रास्ता बतानेके लिये निषादको आगे करके महाराज भरतजी चित्रकूटकी ओर जा रहे हैं, मानो साक्षात् अनुराग ही शरीर धारण करके चल रहा हो। यहाँपर गोसाईंजीने बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। भरतजीके न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छत्र है। वे निष्कपटभावसे प्रेमपूर्वक नियम-व्रत करते हुए जा रहे हैं। भरतजी जिस मार्गसे निकलते हैं उसीमें मानो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है और वहाँका वातावरण इतना विशुद्ध हो जाता है कि वहाँके जड-चेतन जीव भरतके भवरोग-नाशक दर्शन पाकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। जिन रामजीका एक बार भी नाम लेनेवाला मनुष्य स्वयं तरता और दूसरोंको तारनेवाला बन जाता है वे श्रीराम स्वयं जिन भरतजीका मनमें सदा चिन्तन किया करते हैं, उनके दर्शनसे लोगोंका बन्धन-मुक्त हो जाना कौन बड़ी बात है?

भरतजीके दर्शनसे भ्रातृ-प्रेमके भाव चारों ओर फैल रहे हैं, जब महाराज भरतजी श्रीराम कहकर साँस लेते हैं तब मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है, उनके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर वज्र और पत्थर-जैसे हृदयवाले भी पिघल जाते हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?

जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा।
उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।
पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥

मार्गके नर-नारी भरतजीको पैदल चलते देख-देखकर नेत्रोंको सफल करते हैं और भाँति-भाँतिकी चर्चा करते हैं। वनकी नारियाँ भरतजीके शील, प्रेम और भाग्यकी सराहना करती हुई कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥
भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन ॥

'अहो! पिताके दिये हुए राज्यको छोड़कर आज भरत

हुए पैदल ही श्रीरामको मनाने जा रहे हैं, इनके समान भाग्यवान् दूसरा कौन होगा ? भरतजीके भाईपन, भक्ति और आचरणोंका गुण गाने और सुननेसे दुःख और पाप नाश हो जाते हैं।'

भरतका ऐसा प्रभाव पड़ना ही चाहिये था।

भरतजी सहित सबको शुभ शकुन होने लगे, जिससे प्रेम और भी बढ़ा, प्रेमकी विह्वलतासे पैर उलटे-सीधे पड़ रहे हैं, इतनेमें रामसखा निषादराजने शैलशिरोमणि चित्रकूटको दूरसे दिखलाया। अहा ! इसी पुण्यवान् पर्वतपर मेरे स्वामी रघुनाथजी रहते हैं, यह सोचकर भरतजी प्रणाम करने लगे और सियावर रामचन्द्रजीकी जय-ध्वनि करने लगे। उस समय भरतको जैसा प्रेम था, उसका वर्णन शेषजी भी नहीं कर सकते। कविके लिये तो यह उतना ही कठिन है जितना अहंता-ममतावाले मलिन मनुष्यके लिये ब्रह्मानन्द !

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु ॥

भरतजीने सारे समुदायसहित मन्दाकिनीमें स्नान किया और सब लोगोंको वहीं छोड़कर वे केवल शत्रुघ्न और गुहको साथ लेकर आगे चले। यहाँपर भरतजीके मनकी दशाका चित्रण श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही सुन्दर किया है—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥
मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ॥
जौं परिहरहि मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी ॥
मोरें सरन रामकी पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही ॥

धन्य भरतजी ! जानते हैं कि मैं निर्दोष हूँ, परन्तु जब अयोध्याके दृ

****

सब नगर-निवासी, माता कौसल्या, निषाद और त्रिकालदर्शी भरद्वाजजीतकने एक-एक बार सन्देह किया तो यहाँ भी लक्ष्मण-सीता मुझपर सन्देह न करेंगे या श्रीराम ही मुझे मन-मलिन समझकर न त्याग देंगे, इसका क्या भरोसा है ? यह कौन मान सकता है कि माताके मतके साथ मेरा मत नहीं था। जो कुछ हो, राम चाहे त्याग दें परन्तु मैं तो उन्हींकी जूतियोंकी शरण पड़ा रहूँगा। माताके नाते मैं तो दोषी हूँ ही। पर श्रीराम सुस्वामी हैं, वे अवश्य कृपा करेंगे।

फिर जब माताकी करतूत याद आ जाती है तो पैर पीछे पड़ने लग जाते हैं, अपनी भक्तिकी ओर देखकर कुछ आगे बढ़ते हैं और जब श्रीरघुनाथजीके स्वभावकी ओर वृत्ति जाती है तो मार्गमें जल्दी-जल्दी पाँव पड़ते हैं। इस समय भरतजीकी दशा वैसी ही है जैसे जलके प्रवाहमें भँवरकी होती है, जो कभी पीछे हटता है, कभी चक्कर खाता है और कभी फिर आगे बढ़ने लगता है। भरतके इस प्रेमको देखकर निषादराज भी तन-मनकी सुधि भूल गया।

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥

भरत-शत्रुघ्न प्रेममें विह्वल हुए चले जा रहे हैं—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥

(अध्यात्मरा० २। ९। २-३)

'जहाँ श्रीरामके वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल आदि चिह्नोंसे अंकित शुभ चरण-चिह्न देखते हैं वहीं दोनों भाई उस चरण-रजमें लोटने लगते हैं और कहते हैं कि अहो ! हम धन्य हैं जो श्रीरामके उन चरणोंसे चिह्नित भूमिका

दर्शन कर रहे हैं, जिन चरणोंकी रज ब्रह्मादि देवता और वेद सदा खोजते रहते हैं।'

भरतकी इस अवस्थाको देखकर पशु, पक्षी और वृक्ष भी मुग्ध हो गये। पशु-पक्षी जड पाषाणकी भाँति एकटकी लगाकर भरतकी ओर देखने लगे और वृक्षादि द्रवित होकर हिलने-डोलने लगे—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

भरत-शत्रुघ्नकी यह दशा देख निषादराज प्रेममें तन्मय होकर रास्ता भूल गया। दो पागलोंमें तीसरा भी पागल होनेसे कैसे बचता? तीनों ही मतवाले हो गये। देवताओंने फूल बरसाकर निषादको सावधान करते हुए रास्ता बताया। बलिहारी प्रेमकी!

× × × ×

इधर लक्ष्मणजीको सन्देह हुआ, उन्होंने समझा कि भरत बुरी नीयतसे आ रहे हैं, अतः वे नीतिको भूलकर कहने लगे, आज मैं उन्हें भलीभाँति शिक्षा दूँगा—

राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥

श्रीरामने लक्ष्मणजीकी नीयतकी प्रशंसाकर उन्हें भरतका महत्त्व समझाया, लक्ष्मणजीका चित्त शान्त हो गया!

भरतका जीवन बड़ा ही मार्मिक है। सर्वदा साधु और निर्दोष होते हुए भी सबके सन्देहका शिकार बनना पड़ता है। भरतके सदृश सर्वथा राज्य-लिप्सा-शून्य धर्मात्मा त्यागी महापुरुषपर इस प्रकारके सन्देहका इतिहास जगत्में कहीं नहीं मिलता। इतनेपर भी भरत सब सहते हैं, ऊबकर आत्महत्या नहीं कर लेते। शान्ति, प्रेम और सहिष्णुतासे अपनी निर्दोषताका डंका बजाकर जगत्पूज्य बन जाते हैं।

कुछ ही समय बाद श्रीभरतजी वहाँ आ पहुँचे और दूरसे ही व्रतोपवासोंके कारण कृश हुए श्रीरामको तृणके आसनपर बैठे देखकर फूट-फूटकर रोते हुए यों कहने लगे—

य: संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम्।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन्॥
अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम्॥
यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते॥
चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम्।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते॥
मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥

(वा० रा० २।९९।३१—३६)

'मेरे बड़े भाई राम, जो राजदरबारमें प्रजा और मन्त्रियोंद्वारा उपासित होने योग्य हैं, वे आज इन जंगली पशुओंसे उपासित हो रहे हैं। जो महात्मा अयोध्याजीमें उत्तमोत्तम बहुमूल्य वस्त्रोंको धारण करते थे, वे आज धर्माचरणके लिये इस निर्जन वनमें केवल मृगछाला धारण किये हुए हैं। जो श्रीरघुनाथजी एक दिन अपने मस्तकपर अनेक प्रकारकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ धारण करते थे, आज वे इस जटाभारको कैसे सह रहे हैं ? जो ऋत्विजोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञ कराते थे, वे आज शरीरको अत्यन्त क्लेश देते हुए धर्मका सेवन कर रहे हैं। जिनके शरीरपर सदा चन्दन लगाया जाता था, आज उनके शरीरपर मैल जमी हुई है। हाय ! निरन्तर सुख भोगनेवाले इन मेरे बड़े भाई श्रीरामजीको आज मेरे लिये ही इतना असह्य कष्ट सहन करना पड़ रहा है, मुझ क्रूरके इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार है।' यों विलाप करते और आँसुओंकी अजस्र धारा बहाते हुए भरतजी श्रीरामके समीप जा पहुँचे, परन्तु

****

'क्योंकि आप सबमें बड़े हैं, मेरे पिताजीके समान हैं, अतः आप राज्यका पालन कीजिये। प्रजा-पालन ही क्षत्रियोंका धर्म है। अनेक प्रकार यज्ञ करके एवं कुल-वृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठानेके बाद आप वनमें पधारियेगा, यह वनवासका समय नहीं है। मुझपर कृपा कीजिये, मेरी मातासे जो कुकर्म बन गया है, उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये।'

इतना कहकर भरतजी दण्डकी तरह श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े, श्रीरामने स्नेहसे उठाकर गोदमें बैठाया और आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे श्रीभरतजीसे बोले—'भाई ! पिताजीने तुम्हें राज्य दिया है और मुझे वन भेजा है—

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः।
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते॥
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत्।

(अध्यात्मरा॰ २।९।३१-३२)

'अतएव हम दोनोंको यत्नपूर्वक पिताके वचनानुसार कार्य करना चाहिये। जो पिताके वचनोंकी अवहेलना कर स्वतन्त्रतासे बर्तता है, वह जीता ही मरेके समान है और मृत्युके बाद नरकगामी होता है। इसलिये तुम अयोध्याका राज्य करो।' भरतने कहा—'पिताजी कामुकतासे स्त्रीके वश हो रहे थे, उनका चित्त स्थिर नहीं था, वे उन्मत्त-से थे, उन्मत्त पिताके वचनोंको सत्य नहीं मानना चाहिये।' इसपर श्रीरामजीने कहा—'प्रिय भाई ! ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये, पिताजी न तो स्त्रीके वशमें थे, न कामुक थे और न मूर्ख थे, वे बड़े ही सत्यवादी थे और अपने पहलेके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा किया। हम रघुवंशी उनके वचनोंको कैसे असत्य कर सकते हैं ? भरतजीने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मैं भी आपके साथ वनमें रहकर लक्ष्मणकी भाँति आपकी सेवा करूँगा, यदि आप मेरी इस बातको भी स्वीकार न करेंगे तो मैं अनशनव्रत लेकर शरीर-त्याग कर दूँगा।' श्रीरामने उनको उलाहना देकर समझाया, परन्तु जब किसी प्रकार भी भरत नहीं माने

****

तब श्रीरामने वसिष्ठजीको इशारा किया।

एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात्सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥

(अध्यात्मरा० २।९।४२—४६)

'श्रीरामका इशारा पाकर गुरु वसिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा—बेटा! मैं तुमसे एक निश्चित गुप्त बात बतलाता हूँ। श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावणवधार्थ प्रार्थना की थी, तदनुसार ये दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए हैं, जनकनन्दिनी सीताजी योगमाया हैं और लक्ष्मणजी शेषजीके अवतार हैं, जो सदा रामजीके पीछे-पीछे उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीराम रावणको मारनेके लिये वनमें अवश्य जायँगे, इसलिये तुम इन्हें लौटा ले जानेका हठ छोड़ दो।'

श्रीरामका अपने प्रति असाधारण प्रेम, अपने सेवाधर्म और गुरुके इन गुह्य वचनोंपर खयालकर भरतजी वापस अयोध्या लौटनेको तैयार हो गये और श्रीरामकी चरणपादुकाओंको प्रणाम करके बोले कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्॥

(वा० रा० २।११२।२३—२६)

'हे आर्य रघुनन्दन! मैं जटा-वल्कल धारण करूँगा, फल-मूल खाऊँगा, सारे राज-काजका भार आपकी चरण-पादुकाओंको सौंपकर आपकी राह देखता हुआ चौदह सालतक नगरके बाहर निवास करूँगा। हे परन्तप! चौदह वर्षके पूर्ण होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आपके दर्शन न होंगे तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

श्रीरामने भरतकी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया और ठीक अवधिपर अयोध्या लौटनेका वचन दिया। धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामजीके प्रति प्रणाम-प्रदक्षिणा करके स्वर्णजड़ित पादुकाओंको पहले मस्तकपर धारण किया और तदनन्तर उन्हें हाथीपर रखवाया। वनसे अयोध्या लौटकर नगरसे बाहर नन्दिग्राममें पहुँचकर कहा—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥

(वा० रा० २।११५।१४, १६—२०)

****

'अहो ! मेरे पूज्य भाईने यह राज्य मुझे धरोहररूप सौंपा है और इसके योगक्षेमके लिये ये स्वर्णपादुकाएँ दी हैं। ये पादुकाएँ भगवान्‌की प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर छत्र धारण करो, मेरे गुरु श्रीरामकी इन्हीं पादुकाओंसे धर्मराज्यकी स्थापना होगी। मेरे भाईने प्रेमके कारण मुझे यह राज्यरूप धरोहर दी है, जबतक वे लौटकर नहीं आवेंगे तबतक मैं इनकी रक्षा और सेवा करूँगा। मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्रीरघुनाथजी जब सकुशल यहाँ पधारेंगे तब इन दोनों पादुकाओंको उनके चरणोंमें पहनाकर आनन्दसे दर्शन करूँगा। पादुकाओंके साथ ही यह धरोहररूप राज्य उन्हें सौंपकर राज्यभारसे छूटकर मैं निरन्तर उनकी आज्ञामें रहता हुआ उनका भजन करूँगा। इस प्रकार दोनों पादुकाएँ, राज्य और अयोध्या उन्हें पुनः सौंपकर मैं कलंक-मुक्त हो जाऊँगा।'

तदनन्तर पादुकाओंका अभिषेक किया गया, भरतजीने स्वयं छत्र-चामर धारण किये। भरतजी राज्यका समस्त शासन-सम्बन्धी कार्य पादुकाओंसे पूछकर करते थे। जो कुछ भी कार्य होता था या भेंट आती थी सो सबसे पहले पादुकाओंको निवेदन करते, पुनः उसका यथोचित प्रबन्ध करते और वह भी पादुकाओंको सुना देते थे। इस प्रकार पादुकाओंके अधीन होकर भरतजी नन्दिग्राममें नियमपूर्वक रहने लगे। उनकी 'रहनी-करनी'के सम्बन्धमें गोसाईंजी लिखते हैं—

जटाजूट सिर मुनिपट धारी।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी।
मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥

****

तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

× × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।
घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे।
बिलसत बेतस बनज बिकासे॥
सम दम संजम नियम उपासा।
नखत भरत हिय बिमल अकासा॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी।
स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा।
सहित समाज सोह नित चोखा॥
भरत रहनि समुझनि करतूती।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं।
सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
पुलक गात हिय सिय रघुबीरू।
जीह नामु जप लोचन नीरू॥

****

लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ॥

भरतजीकी इस वैराग्य-त्यागमयी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान और उनके आचरणोंका अनुकरण कर कृतार्थ हो जाइये !

इस प्रसंगसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाईको बड़े भाईके साथ कैसा त्याग और विनयपूर्ण बर्ताव करना चाहिये।

× × ×

रावण-वधके अनन्तर श्रीराम सीता, लक्ष्मण, मित्रों और सेवकोंसहित पुष्पक-विमानपर सवार होकर अयोध्या जा रहे हैं। उधर भरतजी महाराज अवधिके दिन गिन रहे हैं। एक दिन शेष रहा है, भरतजीकी चिन्ताका पार नहीं है। वे सोचते हैं—

कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना ॥

****

'श्रीरघुनाथजी क्यों नहीं आये? क्या मुझे कुटिल समझकर भुला दिया? अहो! धन्य है बड़भागी भैया लक्ष्मणको, जिसका रामके चरण-कमलोंमें इतना अनुराग है। मुझे तो कपटी और कुटिल जानकर ही नाथने वनमें साथ नहीं रखा था (असलमें कैकेयी-पुत्रके लिये यह ठीक ही है)। मेरी करनी सोचनेसे तो सौ करोड़ कल्पोंतक भी उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे अपने जनोंका अवगुण नहीं देखते। मेरे मनमें भगवान्‌के इस विरदका दृढ़ भरोसा है, सगुन भी शुभ हो रहे हैं, इससे निश्चय होता है भगवान् कृपापूर्वक अवश्य दर्शन देंगे। परन्तु यदि अवधि बीतनेपर भी ये अधम प्राण रहेंगे तो मेरे समान जगत्‌में दूसरा नीच और कौन होगा?'

भरतकी इस व्याकुल दशाको जानकर उधर **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)की प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् भी व्याकुल हो गये, उन्होंने सन्देश देनेके लिये हनुमान्‌जीको भेज दिया। रामविरहके अथाह समुद्रमें भरतजीका मन डूब रहा था, इतनेहीमें ब्राह्मणका स्वरूप धारणकर श्रीहनुमान्‌जी मानो उद्धार करनेके लिये जहाजरूप होकर आ गये। हनुमान्‌जी रामगतप्राण, रामपरायण भरतजीकी स्थिति देखकर मुग्ध हो गये, उनके रोमाञ्च हो आया और आँखोंसे आँसू बहने लगे। भरतकी कैसी स्थिति थी?

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जल जात॥

हनुमान्‌ने भरतकी आँसू बहाती हुई नाम-जप-परायण ध्यानस्थ मूर्तिको देखकर परम सुखसे भरकर कानोंमें अमृत बरसानेवाली वाणीसे कहा—

जासु बिरहँ सोचहु दिनु राती।
रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।

****

आयउ कुसल देव मुनि त्राता ॥

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत ।

सीता सहित अनुज प्रभु आवत ॥

यह वचन सुनते ही भरतजीके सारे दुःख मिट गये। प्यासेको अमृत मिल गया। प्राणहीनमें प्राण आ गये। भरतजी हर्षोन्मत्त होकर पूछने लगे—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए।

मोहि परम प्रिय बचन सुनाए ॥

हनुमान्‌जीने कहा कि—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना ।

नामु मोर सुनु कृपानिधाना ॥

दीनबंधु रघुपति कर किंकर। × × ×

भरतजीने उठकर हनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया—

सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ॥

प्रेम हृदयमें नहीं समाता है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है, शरीर पुलकित हो रहा है। भरतजी कहते हैं—

कपि तव दरस सकल दुख बीते ।

मिले आजु मोहि राम पिरीते ॥

बार बार बूझी कुसलाता ।

तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता ॥

एहि संदेस सरिस जग माहीं ।

करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥

नाहिन तात उरिन मैं तोही ।

अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥

हनुमान्‌जीने चरण-वन्दनकर सारी कथा संक्षेपमें सुना दी। तदनन्तर भरतजीने फिर पूछा—

कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं।
सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥
निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

श्रीहनुमान्‌जीने गद्‌गद होकर कहा—

राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥

भरत और हनुमान् बार-बार गले लगकर मिलते हैं। हर्षका पार नहीं है। हनुमान्‌जी वापस लौट गये, इधर सारे रनिवास और नगरमें खबर भेजी गयी। सभी ओर हर्ष छा गया। सारा नगर सजाया गया!

भगवान्‌का विमान अयोध्यामें पहुँचा। भरतजी, शत्रुघ्नजी अगवानीके लिये सब मन्त्रियों और पुरवासियोंसहित सामने गये। विमान जमीनपर उतरा, भरतजी विमानमें जाकर श्रीरामके चरणोंमें लोट गये और आनन्दाश्रुओंसे उनके चरणोंको धोने लगे। श्रीरघुनाथजीने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। तदनन्तर भरतजी भाई लक्ष्मणजीसे मिले और उन्होंने माता सीताको प्रणाम किया। श्रीरामने भरतको गोदमें बैठाकर विमानको भरतके आश्रमकी ओर जानेकी आज्ञा दी। तदनन्तर नगरमें आकर सबसे मिले। श्रीरामने भरतकी जटा अपने हाथोंसे सुलझायी। फिर तीनों भाइयोंको नहलाया। इसके बाद स्वयं जटा सुलझाकर स्नान किया।

तदनन्तर भगवान् राजसिंहासनपर बैठे। तीनों भाई सेवामें लगे। समय-समयपर भरतजी अनेक सुन्दर प्रश्न करके रामसे विविध उपदेश प्राप्त करने लगे और अन्तमें श्रीरामके साथ ही परमधाम पधारे।

श्रीभरतजीका चरित्र विलक्षण और परम आदर्श है। उनका रामप्रेम

अतुलनीय है, इसीसे कहा गया है कि—

भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही॥

वास्तवमें भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्के इतिहासमें एक ही है। इनका राज्य-त्याग, संयम, व्रत, नियम आदि सभी सराहनीय और अनुकरणीय है। इनके चरित्रसे स्वार्थ-त्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, विराग और प्रधानतः भ्रातृभक्तिकी बड़ी ही अनुपम शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीलक्ष्मणका भ्रातृ-प्रेम

अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥

राम-मेघके चातक लक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। लक्ष्मणजीका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। इसीसे आज रामकी श्याम मूर्तिके साथ लक्ष्मणकी गौर मूर्ति भी स्थापित होती है और रामके साथ लक्ष्मणका नाम लिया जाता है। राम-भरत या राम-शत्रुघ्न कोई नहीं कहता, परन्तु राम-लक्ष्मण सभी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी धीर, वीर, तेजस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, इन्द्रियविजयी, पराक्रमी, सरल, सुन्दर, तितिक्षा-सम्पन्न, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवाधर्मी, नीतिके जाननेवाले, सत्यव्रती और रामगतप्राण थे। उनका सबसे मुख्य धर्म श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनका अनुसरण करना था। वे श्रीरामसेवामें अपने-आपको भूल जाते थे। भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम जैसे अनोखा है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक अनन्य प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें साथ खेलने-खानेके उपरान्त पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई श्रीरामजीके साथ विश्वामित्रके यज्ञरक्षार्थ चले जाते हैं। वहाँ सब

प्रकारसे भाईकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। इनकी सेवाके दिग्दर्शनमें जनकपुरका वह दृश्य देखना चाहिये, जहाँ रातके समय विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण महाराजा जनकके अतिथिरूपमें डेरेपर ठहरे हैं। गोसाईंजी उनके बर्तावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥
निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा।
सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही।
रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।
पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥
उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥

अहा, क्या ही सुन्दर आदर्श दृश्य है! श्रीराम-लक्ष्मण नगर देखने गये थे

वहाँ नगरवासी नर-नारी और समवयस्क तथा छोटे बालकोंके प्रेममें रम गये, परन्तु अबेर होते देख गुरु विश्वामित्रजीका डर लगा। अतएव बालकोंको समझा-बुझाकर वह मिथिला-मोहिनी जुगल-जोड़ी डेरेपर लौट आयी। आकर भय, प्रेम, विनय और संकोचके साथ गुरु-चरणोंमें प्रणामकर दोनों भाई चुपचाप खड़े रहे, जब गुरुजीने आज्ञा दी तब बैठे, फिर गुरुकी आज्ञासे ठीक समयपर सन्ध्या-वन्दन किया। तदनन्तर कथा-पुराण होते-होते दो पहर रात बीत गयी। तब मुनि विश्वामित्रजी सोये। अब दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे। मुनि बार-बार रोकते और सोनेके लिये कहते हैं पर चरण दबानेके लाभको वे छोड़ना नहीं चाहते, बहुत कहने-सुननेपर श्रीराम भी लेट गये, अब लक्ष्मणजी उनके चरणोंको हृदयपर रखकर भय-प्रेमसहित चुपचाप दबाने लगे। ऐसे चुपचाप प्रेमसे दबाने लगे कि महाराजको नींद आ जाय। श्रीरामने बार-बार कहा, तब लक्ष्मणजी श्रीरामके चरणकमलोंका हृदयमें ध्यान करते हुए सोये। प्रातःकाल मुर्गेकी ध्वनि सुनते ही सबसे पहले लक्ष्मणजी उठे, उनके बाद श्रीरामजी और तदनन्तर गुरु विश्वामित्रजी। इस आदर्श रात्रिचर्यासे ही दिनचर्याका भी अनुमान कर लीजिये। आज ऐसा दृश्य सपनेकी-सी बात हो रही है। इससे अनुमान हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी रामकी किस प्रकार सेवा करते थे।

× × ×

श्रीलक्ष्मणजीकी भ्रातृ-भक्ति अतुलनीय है। वे सब कुछ सह सकते थे, परन्तु श्रीरामका अपमान, तिरस्कार और दुःख उनके लिये असह्य था। अपने लिये—अपने सुखोंके लिये उन्होंने कभी किसीपर क्रोध नहीं किया। अपने जीवनको तो सर्वथा त्यागमय और रामकी कठिन सेवामें ही लगाये रखा, परन्तु रामका तनिक-सा तिरस्कार भी उनको तलमला देता और वे भयानक कालनागकी भाँति फुङ्कार मार उठते। फिर उनके सामने कोई भी क्यों न हो, वे किसीकी भी परवा नहीं करते।

****

जनकपुरके स्वयंवरमें जब शिव-धनुषको तोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं हुआ, तब जनकजीको बड़ा क्लेश हुआ, उन्होंने दुःखभरे शब्दोंमें कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

जनकजीकी इस वाणीको सुनकर सीताकी ओर देखकर लोग दुःखी हो गये, परन्तु लक्ष्मणजीके मनकी कुछ दूसरी ही अवस्था है। जब जनकके मुँहसे 'अब कोई वीरताका अभिमान न करे' ये शब्द निकले, तभी वे अकुला उठे, उन्होंने सोचा कि श्रीरामकी उपस्थितिमें जनक यह क्या कह रहे हैं, परन्तु रामकी आज्ञा नहीं थी, चुप रहे, लेकिन जब जनकजीने बार-बार धरणीको वीरविहीन बतलाया तब लक्ष्मणजीकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयीं, उनके होठ काँपने लगे, आखिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें सिर नवाकर कहा—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

जहाँ रघुवंशमणि श्रीरामजी बैठे हों वहाँ ऐसी अनुचित वाणी कौन कह सकता है? लक्ष्मण कहते हैं कि 'हे श्रीराम! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वभावसे ही इस ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह हाथमें उठा लूँ और—

काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥

****

फिर आपके प्रतापसे इस बेचारे पुराने धनुषकी तो बात ही कौन-सी है, आज्ञा मिले तो दिखाऊँ खेल'—

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥

लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे पृथ्वी काँप उठी, सारा राज-समाज डर गया, सीताजीका सकुचाया हुआ हृदय-कमल खिल उठा, जनकजी सकुचा गये, विश्वामित्रसहित सब मुनिगणों और श्रीरघुवीरजीको हर्षके मारे बारम्बार रोमाञ्च होने लगा। लक्ष्मणजीने अपनी सेवा बजा दी, रामका महत्त्व लोगोंपर प्रकट हो गया। वीररसकी जीती-जागती मूर्ति देखकर लोग विमुग्ध हो गये। परन्तु इस वीररसके महान् चित्रपटको श्रीरामने एक ही सैनसे पलट दिया—

सयनहि रघुपति लखनु निवारे।
प्रेम समेत निकट बैठारे॥

तदनन्तर शिवजीका धनुष गुरुकी आज्ञासे श्रीरामने भङ्ग कर दिया। परशुरामजी आये और कुपित होकर धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे। श्रीरामने प्रकारान्तरसे धनुष तोड़ना स्वीकार किया।

नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

यहाँ परशुराम-लक्ष्मणका संवाद बड़ा ही रोचक है। लक्ष्मणने व्यंग-भावसे श्रीरामकी महिमा सुनायी है और श्रीरामने भाई लक्ष्मणकी उक्तियोंका प्रकारान्तरसे समर्थन किया। मानो दोनों भाई अन्दरसे मिले हुए ऊपरसे दो प्रकारका बर्ताव करते हुए एक-दूसरेका पक्ष समर्थन कर रहे हैं। आखिर श्रीरामके मृदु गूढ़ वचन सुनकर परशुरामजीकी आँखें खुलीं, तब उन्होंने कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥

धनुष हाथमें लेते ही आप-से-आप चढ़ गया—

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

भगवान्‌का प्रभाव समझ परशुरामजी गद्‌गद हो गये और उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको प्रणामकर अपना रास्ता लिया।

चारों भाइयोंका विवाह हुआ। सब अयोध्या लौटे। राजपरिवार सुखके समाजसे पूर्ण हो गया। माताएँ आनन्दमें भर उठीं।

× × ×

तदनन्तर श्रीभरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। परन्तु लक्ष्मणजी नहीं गये। उन्हें ननिहाल-ससुरालकी, नगर-अरण्यकी कुछ भी परवा नहीं, रामजी साथ चाहिये। रामके बिना लक्ष्मण नहीं रह सकते। छाया कायासे अलग हो तो लक्ष्मण रामसे अलग हों, लक्ष्मणके प्रेमका ऐसा प्रबल आकर्षण है कि श्रीराम उनके बिना अकेले न तो सो सकते हैं और न उत्तम भोजन ही कर सकते हैं—

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।

(वा० रा० १। १८। ३०-३१)

रामराज्याभिषेककी तैयारी हुई, लक्ष्मणजीके आनन्दका पार नहीं है। श्रीरामको राजसिंहासनपर देखनेके लिये लक्ष्मण कितने अधिक लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर लक्ष्मणजीके भभके हुए क्रोधानलको देखनेसे ही लग जाता है। जो बात मनके जितनी अधिक प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है।

जब श्रीराम वनवास जाना स्वीकार करके कैकेयी और दशरथकी प्र—

प्रदक्षिणाकर माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये महलसे बाहर निकले, तब लक्ष्मणजी भी क्रोधमें भरकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उनके पीछे-पीछे गये। वे हर हालतमें श्रीरामके साथ हैं।

दोनों भाई माता कौसल्याके पास पहुँचे। श्रीरामने सारी कथा सुनायी। माताके दुःखका पार नहीं रहा, माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परन्तु श्रीराम न माने। श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणजीको नहीं रुचा, वे श्रीरामके पूर्ण अनुयायी थे, परन्तु श्रीरामको अपना हक छोड़ते देखकर उनसे नहीं रहा गया। लक्ष्मणजीके चरित्रमें यह एक विशेषता है, वे जो बात अपने मनमें जँचती है, सो बड़े जोरदार शब्दोंमें रामके सामने रखते हैं, उनकी उक्तियोंका खण्डन करते हैं, कभी विह्वल होकर विलाप नहीं करते। पुरुषत्व तो उनमें टपका पड़ता है, परन्तु जब श्रीरामका अन्तिम निर्णय जान लेते हैं, तब अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर रामका सर्वतोभावसे अनुगमन करने लगते हैं। दशरथजी और कैकेयीके इस आचरणसे दुःखी हुई माता कौसल्याको विलाप करते देख भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मणजी मातासे कहने लगे—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥

(वा० रा० २। २१। १६—१८)

'हे देवि! मैं सत्य, धनुष, दान, पुण्य और इष्टकी शपथ करके आपसे कहता हूँ कि मैं यथार्थ ही सब प्रकारसे अपने बड़े भाई श्रीरामका अनुयायी हूँ। यदि श्रीराम जलती हुई अग्निमें या घोर वनमें प्रवेश करें तो मुझे पहले ही उनमें प्रवेश हुआ समझो। हे माता! जैसे सूर्य उदय होकर सब प्रकारके

अन्धकारको हर लेता है, उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःखको दूर करूँगा। आप और श्रीरामचन्द्र मेरा पराक्रम देखें।' इन वचनोंमें भ्रातृ-प्रेम कितना छलकता है।

इसके अनन्तर वे श्रीरामसे हर तरहकी वीरोचित बातें कहने लगे—'हे आर्य ! आप तुरन्त राज्यपर अधिकार कर लें। मैं धनुष-बाण हाथमें लिये आपकी सेवा और रक्षाके लिये सर्वदा तैयार हूँ। मैं जब कालरूप होकर आपकी सहायता करूँगा, तब किसकी शक्ति है जो कुछ भी विघ्न कर सके ? अयोध्याभरमें एक कैकेयीको छोड़कर दूसरा कोई भी आपके विरुद्ध नहीं है, परन्तु यदि सारी अयोध्या भी हो जाय तो मैं अयोध्याभरको अपने तीक्ष्ण बाणोंसे मनुष्यहीन कर डालूँगा। भरतके मामा या उनके कोई भी हितैषी मित्र पक्ष लेंगे तो उनका भी वध कर डालूँगा। कैकेयीमें आसक्त पिताजी यदि कैकेयीके उभाड़नेसे हमारे शत्रु होंगे तो उनको कैद कर लूँगा या मार डालूँगा। इसमें मुझे पाप नहीं लगेगा। अन्याय करनेवालोंको शिक्षा देना धर्म है।'

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥

(वा० रा० २। २१। १५)

'हे शत्रुसूदन ! आपसे और मुझसे दुस्तर वैर करके किसकी शक्ति है जो भरतको राज्य दे सके ?'

श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥

(वा० रा० २।२१।३९, ४१, ४३-४४)

'लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुझमें बड़ा प्रेम है और यह भी जानता हूँ कि तुममें अपराजेय पराक्रम, तेज और सत्त्व है, परन्तु भाई! इस लोकमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य भरा है। पिताके वचन धर्म और सत्यसे युक्त हैं। हमें उनका पालन करना चाहिये। हे वीर! सत्य और धर्मको श्रेष्ठ समझनेवाला मैं कैकेयीके द्वारा प्राप्त हुई पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें समर्थ नहीं हूँ। तुम भी इस क्षात्रधर्मवाली उग्र वृत्तिको छोड़ दो और इस तीक्ष्णताका त्यागकर विशुद्ध धर्मका आश्रय ले मेरे विचारका अनुसरण करो।'

हे भाई! तुम क्रोध और दुःखको छोड़कर धैर्य धारण कर, अपमानको भूलकर हर्षित हो जाओ। पिताजी सत्यवादी और सत्यप्रतिज्ञ हैं, वे सत्यच्युतिके भयसे परलोकसे डर रहे हैं, मेरे द्वारा सत्यका पालन होनेसे वे निर्भय हो जायँगे। मेरा अभिषेक न रोका गया तो पिताजीका सत्य जायगा, जिससे उनको बड़ा दुःख होगा और उनका दुःखी होना मेरेलिये भी बड़े ही दुःखकी बात होगी। हे भाई! मेरे वनवासमें दैव ही प्रधान कारण है, नहीं तो जो कैकेयी माता मुझपर इतना अधिक स्नेह रखती थी वह मेरेलिये वनवासका वरदान क्यों माँगती? उसकी बुद्धि दैवने ही बिगाड़ी है। आजतक कौसल्या और कैकेयी आदि सभी माताओंने मेरे साथ एक-सा बर्ताव किया है। कैकेयी मुझे कभी कटु वचन नहीं कह सकती, यदि वह प्रबल दैवके वशमें न होती। अतएव तुम मेरी बात मानकर दुःखरहित हो अभिषेककी तैयारीको जल्दी-से-जल्दी हटवा दो।

श्रीरामके वचन सुनकर कुछ देर तो लक्ष्मणने सिर नीचा करके कुछ सोचा, परन्तु पुरुषार्थकी मूर्ति लक्ष्मणको रामकी यह दलील नहीं जँची, उनकी भौंहें चढ़ गयीं, सिरमें बल पड़ गया, वे क्रोधसे भरे साँपकी तरह साँस लेने

****

लगे और पृथ्वीपर हाथ पटककर बोले—'आप ये भ्रमकी-सी बातें कैसे कह रहे हैं, आप तो महावीर हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा० २।२३।१६—१८)

'दैव-दैव तो वही पुकारा करते हैं जो पौरुषहीन और कायर होते हैं। जिन शूरवीरोंके पराक्रमकी जगत्में प्रसिद्धि है, वे कभी ऐसा नहीं करते। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा सकते हैं उनके कार्य दैववश असफल होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता। हे रघुनन्दन ! आज दैव और पुरुषार्थके पराक्रमको लोग देखेंगे, इनमें कौन बलवान् है, इस बातका आज पता लग जायगा।'

अतएव हे आर्य—

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः॥

(वा० रा० २।२३।४०)

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपके किस शत्रुको आज प्राण, यश और मित्रोंसे अलग करूँ (मार डालूँ)। प्रभो ! मैं आपका किंकर हूँ, ऐसी आज्ञा दें जिससे इस सारी पृथ्वीपर आपका अधिकार हो जाय।' इतना कहकर लक्ष्मणजी राम-प्रेममें रोने लगे। भगवान् श्रीरामने अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछकर उन्हें बार-बार सान्त्वना देते हुए कहा कि—'भाई ! [illegible]

समझो कि माता-पिताकी आज्ञा मानना ही पुत्रका उत्तमोत्तम धर्म है, इसीलिये मैं पिताकी आज्ञा माननेको तैयार हुआ हूँ। फिर इस राज्यमें रखा ही क्या है, यह तो स्वप्नकी दृश्यावलिके सदृश है—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत्।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत्॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय॥

(अध्यात्मरा० २।४।१९—२०, ३६, ३८—४०)

'यदि यह सब राज्य और शरीरादि दृश्य पदार्थ सत्य होते तो उसमें तुम्हारा परिश्रम कुछ सफल भी हो सकता, परन्तु ये इन्द्रियोंके भोग तो बादलोंके समूहमें बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और यह आयु अग्निसे तपे हुए लोहेपर जलकी बूँदके समान क्षणविनाशी है। भाई ! यह क्रोध ही मानसिक सन्तापकी जड़ है, क्रोधसे ही संसारका बन्धन होता है, क्रोध धर्मका नाश कर डालता है, अतएव इस क्रोधको त्यागकर शान्तिका सेवन करो, फिर संसारमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। आत्मा तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि सबसे विलक्षण ही है। वह आत्मा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्विकार और निराकार है। जबतक यह पुरुष आत्माको देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे अलग

****

नहीं जानता, तबतक उसे संसारके जन्म-मृत्यु-जनित दुःख-समूहसे पीड़ित होना पड़ता है, अतएव हे लक्ष्मण ! तुम अपने हृदयमें आत्माको सदा-सर्वदा इनसे पृथक् (इनका द्रष्टा) समझो !'

× × ×

श्रीराम वन जानेको तैयार हो गये, सीताजी भी साथ जाती हैं, अब लक्ष्मणजीका क्रोध तो शान्त है, परन्तु वे श्रीरामके साथ जानेके लिये व्याकुल हैं, दौड़कर श्रीरामके चरणोंमें लोट जाते हैं और रोते हुए कहते हैं—'हे रघुनन्दन ! आपने मुझसे कहा था कि तू मेरे विचारका अनुसरण कर फिर आज आप मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥

(वा० रा० २ । ३१ । ५)

'हे भाई ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष या संसारका कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता ।' कहाँ तो लक्ष्मणकी वह तेजोमयी विकराल मूर्ति और कहाँ यह माताके सामने बच्चेकी-सी फरियाद ! यही तो लक्ष्मणजीके भ्रातृ-प्रेमकी विशेषता है । श्रीरामजी भाई लक्ष्मणके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये और उन्हें छातीसे लगाकर बोले—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे ॥

(वा० रा० २ । ३१ । १०)

'भाई ! तुम मेरे स्नेही हो, धर्मपरायण, धीर, सदा सन्मार्गमें स्थित हो, मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे वशवर्ती हो, मेरे आज्ञाकारी हो और मेरे मित्र हो !' इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु तुम्हें साथ ले चलनेसे यहाँ दुःखी पिता और शोकपीड़िता माताओंको कौन सान्त्वना देगा ?

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ ।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ ॥

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

बड़ी ही शुभ शिक्षा है, परन्तु चातक तो मेघकी स्वातिबूँदको छोड़कर गङ्गाकी ओर भी नहीं ताकना चाहता; एकनिष्ठ लक्ष्मण एक बार तो सहम गये, प्रेमवश कुछ बोल न सके, फिर अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े और आँसुओंसे चरण धोते हुए बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

भगवान्‌ने देखा कि अब लक्ष्मण नहीं रहेंगे, तब उन्हें आज्ञा दी, अच्छ

****

मागहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण डरते-से माता सुमित्राजीके पास गये कि कहीं माता रोक न दें। परन्तु वह भी लक्ष्मणकी ही माँ थीं, उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(वा० रा० २।४०।९)

'जाओ बेटा! सुखसे वनको जाओ, श्रीरामको दशरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना।'

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥
पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

लक्ष्मणका मनचाहा हो गया, वे दौड़कर श्रीरामके पास पहुँच गये और सीताके साथ दोनों भाई अयोध्यावासियोंको रुलाकर वनकी ओर चल दिये।

× × ×

एक दिनकी बात है, वनमें चलते-चलते सन्ध्या हो गयी। कभी पैदल चलनेका किसीको अभ्यास नहीं था, तीनों जने थके हुए थे, वनमें चारों ओर काले साँप घूम रहे थे। लक्ष्मणने जगह साफकर एक पेड़के नीचे कोमल पत्ते बिछा दिये। श्रीराम-सीता उसपर बैठ गये। लक्ष्मणजीने भोजनका सामान जुटाया। श्रीराम इस कष्टको देखकर स्नेहवश लक्ष्मणसे बार-बार कहने लगे

****

कि 'भाई ! तुम अयोध्या लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंको सान्त्वना दो। यहाँके कष्ट मुझको और सीताको ही भोगने दो।' इसके उत्तरमें लक्ष्मणने बड़े ही मार्मिक शब्द कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥

(वा० रा० २।५३।३१-३२)

'हे रघुनन्दन ! सीताजी और मैं आपसे अलग रहकर उसी तरह घड़ीभर भी नहीं जी सकते, जैसे जलसे निकालनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं। हे शत्रुनाशन ! आपको छोड़कर मैं माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता।' धन्य भ्रातृ-प्रेम !

जिस समय निषादराज गुहके यहाँ श्रीराम-सीता रातके समय लक्ष्मणजीके द्वारा तैयार की हुई घास-पत्तोंकी शय्यापर सोते हैं, उस समय श्रीलक्ष्मण कुछ दूरपर खड़े पहरा दे रहे हैं, गुह आकर कहता है 'आपको जागनेका अभ्यास नहीं है, आप सो जाइये। मैंने पहरेका सारा प्रबन्ध कर दिया है।' इस बातको सुनकर श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा॥

(वा० रा० २।८६।१०)

'दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं, फिर मुझे कैसे तो नींद आ सकती है और कैसे जीवन तथा सुख अच्छा लग सकता है ?'

वनमें श्रीलक्ष्मणजी हर तरहसे श्रीराम-सीताकी सेवा करते हैं। चित्रकूटमें काठ और पत्ते इकट्ठे करके लक्ष्मणने ही कुदारसे मिट्टी खोदकर सुन्दर कुटिया बनायी थी। फल-मूल लाना, हवनकी सामग्री इकट्ठी करनी, सीताके

****

गहने-कपड़ोंकी बाँसकी पेटी तथा शस्त्रास्त्रोंको उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे होकर पानी भरकर लाना। रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों-पत्थरोंपर पुराने कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी बनाना, जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और बड़े हर्षके साथ वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

× × ×

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किन्तु-परन्तु' किये चुपचाप उसे सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर लड़नेकी सारी इच्छा एकदम छोड़ दी।

२—भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, परन्तु श्रीरामकी आज्ञा होते ही तथ्य समझकर शान्त हो गये।

३—खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी कि 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर पर्वत-गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ाईके मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी, परन्तु उन्होंने चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया।

४—श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पालकीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी, इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परन्तु कुछ भी नहीं बोले।

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये
मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने
ता तैयार कर दी।

६—सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा
पाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भंगके सिर्फ दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम
, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए
श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये
अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास
जाने देना। परन्तु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटु वचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि 'माता ! ये
शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप
धैर्य रखें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर आपको अकेली छोड़कर नहीं
जा सकता।' इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू
भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं
...न जल मरूँगी, परन्तु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन
वचन-बाणोंसे पवित्रहृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया, उन्होंने कहा,
'हे माता वैदेही ! आप मेरे लिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह
नहीं सकता, परन्तु मैं आपके शब्दोंको सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे
वनदेवताओ ! आप सब साक्षी हैं, मैं अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता
हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्री-स्वभावसे मुझपर सन्देह करती हैं। मैं समझता
हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता ! आपका कल्याण हो, वनदेवता
आपकी रक्षा करें। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना
दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसंगमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको

****

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी।

६—सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भंगके सिर्फ दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना। परन्तु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटु वचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि 'माता ! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रखें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता।' इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी, परन्तु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन वचन-वाणोंसे पवित्रहृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया, उन्होंने कहा, 'हे माता वैदेही ! आप मेरे लिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह नहीं सकता, परन्तु मैं आपके शब्दोंको सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे वनदेवताओ ! आप सब साक्षी हैं, मैं अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्री-स्वभावसे मुझपर सन्देह करती हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता ! आपका कल्याण हो, वनदेवता आपकी रक्षा करें। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसंगमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको

शापसे बचानेके लिये ही आज्ञाका त्याग किया था।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी रामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका विद्वेष बना ही रहा, परन्तु यह बात ठीक नहीं। रामकी अवज्ञा करनेवालेको अवश्य ही वे क्षमा नहीं कर सकते थे, परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरत दोषी नहीं हैं तब लक्ष्मणके अन्तःकरणमें अपनी कृतिपर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वे भरतपर पूर्ववत् श्रद्धा तथा स्नेह करने लगे। एक समय जाड़ेकी ऋतुमें वनके अन्दर शीतकी भयानकताको देखकर लक्ष्मणजी नन्दिग्रामनिवासी भरतकी चिन्ता करते हुए कहते हैं—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान्निरुदरो महान्।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः।
सन्त्यज्य विविधान्सौख्यानार्यं सर्वात्मना श्रितः॥
जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते।

[illegible]

'हे पुरुषश्रेष्ठ! एसे [illegible] सहकर अयोध्यामें [illegible]

राज्य, सम्मान और विविध प्रकारके भोग-विलासोंको त्यागकर इस शीत-कालमें ठण्ढी जमीनपर सोते होंगे। अहो ! भरत भी इसी समय उठकर अपने साथियोंको लेकर सरयूमें नहाने जाते होंगे। अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार शरीरवाले शीतसे पीड़ित हुए भरत इतने तड़के सरयूके अत्यन्त शीतल जलमें कैसे स्नान करते होंगे ? कमलनयन श्यामसुन्दर भाई भरत सदा नीरोग, धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय और मधुरभाषी और लम्बी भुजाओंवाले शत्रुनाशन महात्मा हैं। अहा ! भरतने सब प्रकारके सुखोंका त्यागकर सब प्रकारसे आपका ही आश्रय ले लिया है। हे आर्य ! महात्मा भाई भरतने स्वर्गको भी जीत लिया, क्योंकि आप वनमें हैं इसलिये वे भी आपकी ही भाँति तपस्वी-धर्मका पालन कर आपका अनुसरण कर रहे हैं।'

इन वचनोंको पढ़नेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मणका भरतके प्रति प्रेम नहीं था ? इनमें तो उनका प्रेम टपका पड़ता है।

× × ×

लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिका भी कुछ घमण्ड न रखकर श्रीराम-सेवामें किस प्रकार अर्पित-प्राण थे, इस बातका पता तब लगता है कि जब पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम अच्छा-सा स्थान खोजकर पर्णकुटी तैयार करनेके लिये लक्ष्मणको आज्ञा देते हैं। तब सेवा-परायण लक्ष्मण हाथ जोड़कर भगवान्से कहते हैं कि हे प्रभो ! मैं अपनी स्वतन्त्रतासे कुछ नहीं कर सकता।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

(वा० रा० ३।१५।७)

'हे काकुत्स्थ ! चाहे सैकड़ों वर्ष बीत जायँ पर मैं तो आपके ही अधीन हूँ। आप ही पसन्द करके उत्तम स्थान बतावें।'

इसका यह मतलब नहीं है कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बड़े बुद्धि-मान् और विद्वान् थे एवं समय-समयपर रामकी सेवाके लिये बुद्धिका प्रयोग

भी करते थे, किन्तु जहाँ रामके किये कामपर ही पूरा सन्तोष होता वहाँ वे कुछ भी नहीं बोलते थे। उनमें तेज और क्रोधके भाव थे, पर वे थे सब रामके लिये ही। लक्ष्मण विलाप करना, विह्वल होना, डिगना और राम-विरोधीपर क्षमा करना नहीं जानते थे। इसीसे अन्य दृष्टिसे देखनेवाले लोग उनके चरित्रमें दोषोंकी कल्पना किया करते हैं, परन्तु लक्ष्मण सर्वथा निर्दोष, रामप्रिय, रामरहस्यके ज्ञाता और आदर्श भ्राता हैं। इनके ज्ञानका नमूना देखना हो तो गुहके साथ इन्होंने एकान्तमें जो बातें की थीं, उन्हें पढ़ देखिये। जब निषादने विषादवश कैकेयीको बुरा-भला कहा और श्रीसीतारामजीके भूमि-शयनको देखकर दुःख प्रकट किया तब लक्ष्मणजी नम्रताके साथ मधुरवाणी द्वारा उससे कहने लगे—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।

देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकार रहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल ॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू ॥

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा कौन गा सकता है ? इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और सरलताका, परामर्श और आज्ञाकारिताका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रमें है। सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतका गुण गाते हैं और भरत लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हैं। फिर हम किस गिनतीमें हैं जो लक्ष्मणजीके गुणोंका संक्षेपमें बखान कर सकें !

श्रीशत्रुघ्नजीका भ्रातृ-प्रेम

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी ॥

****

रामदासानुदास श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीराम और भरत-लक्ष्मणके परमप्रिय और आज्ञाकारी बन्धु थे। शत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषय-विरागी, सरल, तेजपूर्ण, गुरुजनोंके अनुगामी, वीर और शत्रु-तापन थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका अनुमान हो जाता है। जैसे श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामके चिर-संगी थे, इसी प्रकार लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें नियुक्त रहते थे। भरतजीके साथ ही आप उनके ननिहाल गये थे और पिताकी मृत्युपर साथ ही लौटे थे। अयोध्या पहुँचनेपर कैकेयीजीके द्वारा पितामरण और राम-सीता-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतएव इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥
बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥

(वा० रा० २।७८।२-३)

'श्रीराम, जो दुःखके समय सब भूत-प्राणियोंके आश्रय हैं, फिर हमलोगोंके आश्रय हैं इसमें तो कहना ही क्या' ऐसे महाबलवान् राम एक स्त्री (कैकेयी) की प्रेरणासे ही वनमें चले गये। 'अहो! श्रीलक्ष्मण तो बलवान् और महापराक्रमी थे, उन्होंने पिताको समझाकर रामको वन जानेसे क्यों नहीं रोका?' इस समय शत्रुघ्नजी दुःख और कोपसे भरे थे, इतनेमें रामविरहसे दुःखी एक द्वारपालने आकर कहा कि 'हे राजकुमार! जिसके षड्यन्त्रसे श्रीरामको वन जाना पड़ा और महाराजकी मृत्यु हुई, वह क्रूरा पापिनी कुब्जा वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई खड़ी है, आप उचित समझें तो उसे कुछ शिक्षा दें।'

****

कुब्जा भरतजीसे इनाम लेने आ रही थी और उसे दरवाजेपर देखते ही द्वारपालने अन्दर आकर शत्रुघ्नसे ऐसा कह दिया था। शत्रुघ्नको बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने कुब्जाकी चोटी पकड़कर उसे घसीटा, उसने जोरसे चीख मारी। यह दशा देखकर कुब्जाकी अन्य सखियाँ तो दौड़कर श्रीकौसल्याजीके पास चली गयीं, उन्होंने कहा कि अब मधुरभाषिणी, दयामयी कौसल्याके शरण गये बिना शत्रुघ्न हमलोगोंको भी नहीं छोड़ेंगे। कैकेयी छुड़ाने आयीं तो उनको भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नसे कहा—'भाई ! स्त्री-जाति अवध्य है, नहीं तो मैं ही कैकेयीको मार डालता—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

(वा० रा० २।७८।२३)

'भाई ! यह कुब्जा भी यदि तुम्हारे हाथसे मारी जायगी तो धर्मात्मा श्रीराम इस बातको जानकर निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया। यहाँ यह पता लगता है कि प्रथम तो रामकी धर्मनीतिमें स्त्री-जातिका कितना आदर था, स्त्री अवध्य समझी जाती थी। दूसरे, शोकाकुल भरतने इस अवस्थामें भी भाई शत्रुघ्नको भ्रातृ-प्रेमके कारण रामकी राजनीति बतलाकर अधर्मसे रोका और तीसरे, रोषमें भरे हुए शत्रुघ्नने भी तुरन्त भाईकी बात मान ली। इससे हमलोगोंको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि प्राचीन कालमें भारतीय पुरुष स्त्रियोंको बहुत तुच्छबुद्धिसे देखते थे, उनको इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

× × ×

इसके अनन्तर शत्रुघ्नजी भी भरतजीके साथ श्रीरामको लौटाने वनमें जाते हैं और वहाँ भरतजीकी आज्ञासे रामकी कुटिया ढूँढ़ते हैं। जब भरतजी दूरसे श्रीरामको देखकर दौड़ते हैं, तब श्रीरामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी पीछे-पीछे दौड़े जाते हैं और—

****

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० २।९९।४०)

'वे भी रोते हुए श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते हैं, श्रीराम भी दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगते हैं।' इसी प्रकार शत्रुघ्न अपने बड़े भाई लक्ष्मणजीसे भी मिलते हैं—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई।

इसके बाद श्रीराम-भरतके संवादमें लक्ष्मण-शत्रुघ्नका बीचमें बोलनेका कोई काम नहीं था। दोनोंके अपने-अपने नेता बड़े भाई मौजूद थे। शत्रुघ्नने तो भरतको अपना जीवन सौंप ही दिया था। इसीसे भरत कह रहे थे कि—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।

शत्रुघ्नजीकी सम्मति न होती या शत्रुघ्नके भ्रातृ-प्रेमपर भरोसा न होता तो भरतजी ऐसा क्योंकर कह सकते?

पादुका लेकर लौटनेके समय श्रीरामसे दोनों भाई पुनः गले लगकर मिलते हैं। रामकी प्रदक्षिणा करते हैं। लक्ष्मणजीकी भाँति शत्रुघ्नजी भी कुछ तेज थे, कैकेयीके प्रति उनके मनमें रोष था, श्रीराम इस बातको समझते थे, इससे वनसे विदा होते समय श्रीरामने शत्रुघ्नजीको वात्सल्यताके कारण शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा० २।११२।२७-२८)

'हे भाई! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना।' इतना कहनेपर उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं। इससे पता लगता है कि श्रीराम-शत्रुघ्नमें परस्पर कितना प्रेम था!

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ अयोध्या लौटकर उनके आज्ञानुसार राज और परिवारकी सेवामें रहते हैं तथा श्रीरामके अयोध्या लौट आनेपर प्रेमपूर्वक उनसे मिलते हैं—

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन भेंटे हृदयँ लगाइ।

तदनन्तर उनकी सेवामें लग जाते हैं। श्रीरामका राज्याभिषेक होता है और रामराज्यमें सबका जीवन सुख और धर्ममय बीतता है।

एक समय ऋषियोंने आकर श्रीरामसे कहा कि 'लवणासुर नामक राक्षस बड़ा उपद्रव कर रहा है, वह प्राणिमात्रको—खास करके तपस्वियोंको पकड़कर खा जाता है। हम सब बड़े ही दुःखी हैं।' श्रीरामने उनसे कहा कि 'आप भय न करें, मैं उस राक्षसको मारनेका प्रबन्ध करता हूँ।' तदनन्तर श्रीरामने अपने भाइयोंसे पूछा कि 'लवणासुरको मारने कौन जाता है?' भरतजीने कहा—'महाराज! आपकी आज्ञा होगी तो मैं चला जाऊँगा।' इसपर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजीने नम्रतासे कहा—'हे रघुनाथजी! आप जब वनमें थे तब महात्मा भरतजीने बड़े-बड़े दुःख सहकर राज्यका पालन किया था, ये नगरसे बाहर नन्दिग्राममें रहते थे, कुशपर सोते थे, फल-मूल खाते थे और जटा-वल्कल धारण करते थे। अब मैं दास जब सेवामें उपस्थित हूँ तब इन्हें न भेजकर मुझे ही भेजना चाहिये।' भगवान् श्रीरामने कहा—'अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा ही करो, मैं तुम्हारा मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राज्याभिषेक करूँगा, तुम शूरवीर हो, नगर बसा सकते हो, मधु राक्षसके पुत्र लवणासुरको मारकर धर्म-बुद्धिसे वहाँका राज्य करो। मैंने जो कुछ कहा है, इसके बदलेमें कुछ भी न कहना, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा बालकोंको माननी चाहिये। गुरु वसिष्ठ तुम्हारा विधिवत् अभिषेक करेंगे, अतएव मेरी आज्ञासे तुम उसे स्वीकार करो।' श्रीरामने अपने मुँहसे बड़ोंकी आज्ञाका महत्त्व इसीलिये बतलाया कि वे शत्रुघ्नकी त्याग-वृत्तिको जानते थे। श्रीराम ऐसा न कहते तो वे सहजमें राज्य स्वीकार न करते। इस बातका पता उनके उत्तरसे

लगता है। शत्रुघ्नजी बोले—'हे नरेश्वर ! बड़े भाईकी उपस्थितिमें छोटेका राज्याभिषेक होना मैं अधर्म समझता हूँ। इधर आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये। आपके द्वारा ही मैंने यह धर्म सुना है। श्रीभरतजीके बीचमें मुझको कुछ भी नहीं बोलना चाहिये था—

व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ॥
उत्तरं नहि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्॥

(वा० रा० ७।६३।५-६)

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! 'दुष्ट लवणासुरको मैं रणमें मारूँगा' मैंने ये दुर्वचन कहे, इस अनधिकार बोलनेके कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई। बड़ोंकी आज्ञा होनेपर तो प्रति-उत्तर भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकका नाश करनेवाला है।' धन्य शत्रुघ्नजी, आप राज्य-प्राप्तिको 'दुर्गति' समझते हैं ! कैसा आदर्श त्याग है ! आप फिर कहते हैं कि 'हे काकुत्स्थ ! एक दण्ड तो मुझे मिल गया, अब आपके वचनोंपर कुछ बोलूँ तो कहीं दूसरा दण्ड न मिल जाय, अतएव मैं कुछ भी नहीं कहता। आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ।'

भगवान्‌की आज्ञासे शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हो गया, तदनन्तर उन्होंने लवणासुरपर चढ़ाई की, श्रीरामने चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, एक सौ उत्तम हाथी, क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी, खर्चके लिये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ साथ दीं और भाँति-भाँतिके सदुपदेश देकर शत्रुघ्नको विदा किया। इससे पता लगता है कि शत्रुघ्नजी श्रीरामको कितने प्यारे थे।

रास्तेमें ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते हुए वे जाने लगे। वाल्मीकिजीके आश्रममें भी एक रात ठहरे, उसी रातको सीताजीके लव-कुशका जन्म हुआ था। अतः वह रात शत्रुघ्नजीके लिये बड़े आनन्दकी रही। शत्रुघ्नजीने मधुपुर

****

सफल हुई। उसका ध्येय था किसी भी उपायसे वनमें पतिके साथ रहकर पतिकी सेवा करना। इसीको वह परम धर्म समझती थी। इसीमें उसे परम आनन्दकी प्राप्ति होती थी। वह कहती है—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

वनके नाना क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती है। वह पति-सेवाके सामने सब कुछ तुच्छ समझती है।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

यहाँपर यह सिद्ध होता है कि सीताजीने एक बार प्राप्त हुई पति-आज्ञाको बदलाकर दूसरी बार अपने मनोनुकूल आज्ञा प्राप्त करनेके लिये प्रेमाग्रह किया। यहाँतक कि जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने तो हृदय विदीर्ण हो जानेतकका सङ्केत कर दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अध्यात्मरामायणके अनुसार तो श्रीसीताने यहाँतक स्पष्ट कह दिया कि—

रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।

(अ० रा० २।४।७७—७९)

****

'मैंने भी ब्राह्मणोंके द्वारा रामायणकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। कहीं भी ऐसा कहा गया हो तो बतलाइये कि किसी भी रामावतारमें श्रीराम सीताको अयोध्यामें छोड़कर वन गये हैं। इस बार ही यह नयी बात क्यों होती है? मैं आपकी सेविका बनकर साथ चलूँगी। यदि किसी तरह भी आप मुझे नहीं ले चलेंगे तो मैं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगी।' पतिसेवाकी कामनासे सीताने इस प्रकार स्पष्टरूपसे अवतारविषयक अपनी बड़ाईके शब्द भी कह डाले।

वाल्मीकिरामायणके अनुसार सीताजीके अनेक रोने, गिड़गिड़ाने, विविध प्रार्थना करने और प्राणत्यागपूर्वक परलोकमें पुनः मिलन होनेका निश्चय बतलानेपर भी जब श्रीराम उन्हें साथ ले जानेको राजी नहीं हुए तब उनको बड़ा दुःख हुआ और वे प्रेमकोपमें आँखोंसे गर्म-गर्म आँसुओंकी धारा बहाती हुई नीतिके नाते इस प्रकार कुछ कठोर वचन भी कह गयीं कि—'हे देव! आप-सरीखे आर्य पुरुष मुझ-जैसी अनुरक्त, भक्त, दीन और सुख-दुःखको समान समझनेवाली सहधर्मिणीको अकेली छोड़कर जानेका विचार करें यह आपको शोभा नहीं देता। मेरे पिताने आपको पराक्रमी और मेरी रक्षा करनेमें समर्थ समझकर ही अपना दामाद बनाया था।' इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीराम लड़कपनसे अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी समझे जाते थे। इस प्रसङ्गमें श्रीवाल्मीकिजी और गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता-रामके संवादमें जो कुछ कहा है सो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करने योग्य है।

सीताजीके प्रेमकी विजय हुई, श्रीरामने उन्हें साथ ले चलना स्वीकार किया। इस कथानकसे यह सिद्ध होता है कि पत्नीको पतिसेवाके लिये—अपने सुखके लिये नहीं—पतिकी आज्ञाको दुहरानेका अधिकार है। वह प्रेमसे पति-सुखके लिये ऐसा कर सकती है। सीताने तो यहाँतक कह दिया था 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तब भी मैं तो साथ चलूँगी।' सीताजीके

****

इस प्रेमाग्रहकी आजतक कोई भी निन्दा नहीं करता, क्योंकि सीता केवल पति-प्रेम और पति-सेवाहीके लिये समस्त सुखोंको तिलाञ्जलि देकर वन जानेको तैयार हुई थी, किसी इन्द्रिय-सुखरूप स्वार्थ-साधनके लिये नहीं! इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सीताका व्यवहार अनुचित या पतिव्रत-धर्मसे विरुद्ध था। स्त्रीको धर्मके लिये ही ऐसा व्यवहार करनेका अधिकार है। इससे पुरुषोंको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सहधर्मिणी पतिव्रता पत्नीकी बिना इच्छा उसे त्यागकर अन्यत्र चले जाना अनुचित है। इसी प्रकार स्त्रीको भी पति-सेवा और पति-सुखके लिये उसके साथ ही रहना चाहिये। पतिके विरोध करनेपर भी कष्ट और आपत्तिके समय पति-सेवाके लिये स्त्रीको उसके साथ रहना उचित है। अवश्य ही अवस्था देखकर कार्य करना चाहिये। सभी स्थितियोंमें सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती। सीताने भी अपनी साधुताके कारण सभी समय इस अधिकारका उपयोग नहीं किया था।

पति-सेवामें सुख वनमें जाकर सीता पति-सेवामें सब कुछ भूलकर सब तरह सुखी रहती है! उसे राजपाट, महल-बगीचे, धन-दौलत और दास-दासियोंकी कुछ भी स्मृति नहीं होती। रामको वनमें छोड़कर लौटा हुआ सुमन्त सीताके लिये विलाप करती हुई माता कौसल्यासे कहता है—'सीता निर्जन वनमें घरकी भाँति निर्भय होकर रहती है, वह श्रीराममें मन लगाकर उनका प्रेम प्राप्त कर रही है। वनवाससे सीताको कुछ भी दुःख नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि (श्रीरामके साथ) सीता वनवासके सर्वथा योग्य है। चन्द्रानना सती सीता जैसे पहले यहाँ बगीचोंमें जाकर खेलती थी, वैसे ही वहाँ निर्जन वनमें भी वह श्रीरामके साथ बालिकाके समान खेलती है। सीताका मन राममें है, उसका जीवन श्रीरामके अधीन है, अतएव श्रीरामके साथ सीताके लिये वन ही अयोध्या है और श्रीरामके बिना अयोध्या ही वन है।' धन्य पातिव्रत्य! धन्य!

सास-सेवा सीता पति-सेवाके लिये वन गयी परन्तु उसको इस

****

बातका बड़ा क्षोभ रहा कि सासुओंकी सेवासे उसे अलग होना पड़ रहा है। सीता सासके पैर छूकर सच्चे मनसे रोती हुई कहती है—

× × × । सुनिअ माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥

सास-पतोहूका यह व्यवहार आदर्श है। भारतीय ललनाएँ यदि आज कौसल्या और सीताका-सा व्यवहार करना सीख जायँ तो भारतीय गृहस्थ सब प्रकारसे सुखी हो जायँ। सास अपनी वधुओंको सुखी देखनेके लिये व्याकुल रहें और बहुएँ सासकी सेवाके लिये छटपटावें तो दोनों ओर ही सुखका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सहिष्णुता

सीताकी सहिष्णुताका एक उदाहरण देखिये। वन-गमनके समय जब कैकेयी सीताको वनवासके योग्य वस्त्र पहननेके लिये कहती है तब वसिष्ठ-सरीखे महर्षिका मन भी क्षुब्ध हो उठता है, परन्तु सीता इस कथनको केवल चुपचाप सुन ही नहीं लेती, आज्ञानुसार वह वस्त्र धारण भी कर लेती है। इस प्रसंगसे भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सास या उसके समान नातेमें अपनेसे बड़ी कोई भी स्त्री जो कुछ कहे या बर्ताव करे, उसको खुशीके साथ सहन करना चाहिये और कभी पतिके साथ विदेश जाना पड़े तो सच्चे हृदयसे सासुओंको प्रणाम कर, उन्हें सन्तोष करवाकर सेवासे वञ्चित होनेके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए जाना चाहिये। इससे वधुओंको सासुओंका आशीर्वाद आप ही प्राप्त होगा।

निरभिमानता

सीता अपने समयमें लोकप्रसिद्ध पतिव्रता थी, उसे कोई पातिव्रत्यका क्या उपदेश करता? परन्तु सीताको अपने पातिव्रत्यका कोई अभिमान नहीं था। अनसूयाजीके द्वारा किया हुआ पातिव्रत्य-धर्मका उपदेश

सीता बड़े आदरके साथ सुनती है और उनके चरणोंमें प्रणाम करती है। उसके मनमें यह भाव नहीं आता कि मैं सब कुछ जानती हूँ। बल्कि अनसूयाजी ही उससे कहती हैं—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अपनेसे बड़े-बूढ़े जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

गुरुजन-सेवा और मर्यादा

बड़ोंकी सेवा और मर्यादामें सीताका मन कितना लगा रहता था, इस बातको समझनेके लिये महाराज जनककी चित्रकूट यात्राके प्रसंगको याद कीजिये। भरतके वन जानेपर राजा जनक भी रामसे मिलनेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं। सीताकी माता श्रीरामकी माताओंसे—सीताकी सासुओंसे मिलती हैं और सीताको साथ लेकर अपने डेरेपर आती हैं। सीताको तपस्विनीके वेषमें देखकर सबको विषाद होता है, पर महाराज जनक अपनी पुत्रीके इस आचरणपर बड़े ही सन्तुष्ट होते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ।
सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥

माता-पिता बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर अनेक प्रकारकी सीख और असीस देते हैं। बात करते-करते रात अधिक हो जाती है। सीता मनमें सोचती है कि सासुओंकी सेवा छोड़कर इस अवस्थामें रातको यहाँ रहना अनुचित है, किन्तु स्वभावसे ही लज्जाशीला सीता सङ्कोचवश मनकी बात माँ-बापसे कह नहीं सकती—

कहति न सीय सकुचि मनमाहीं।
इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

चतुर माता सीताके मनका भाव जान लेती है और सीताके शील-

स्वभावकी मन-ही-मन सराहना करते हुए माता-पिता सीताको कौसल्याके डेरेमें भेज देते हैं। इस प्रसङ्गसे भी स्त्रियोंको सेवा और मर्यादाकी शिक्षा लेनी चाहिये।

निर्भयता

सीताका तेज और उसकी निर्भयता देखिये। जिस दुर्दान्त रावणका नाम सुनकर देवता भी काँपते थे, उसीको सीता निर्भयताके साथ कैसे-कैसे वचन कहती थी। रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता अति क्रोधसे उसका तिरस्कार करती हुई कहती है—'अरे दुष्ट निशाचर, तेरी आयु पूरी हो गयी है, अरे मूर्ख! तू श्रीरामचन्द्रकी सहधर्मिणीको हरणकर प्रज्वलित अग्निके साथ कपड़ा बाँधकर चलना चाहता है। तुझमें और रामचन्द्रमें उतना ही अन्तर है जितना सिंह और सियारमें, समुद्र और नालेमें, अमृत और काँजीमें, सोने और लोहेमें, चन्दन और कीचड़में, हाथी और बिलावमें, गरुड़ और कौवेमें तथा हंस और गीधमें होता है। मेरे अमित प्रभाववाले स्वामीके रहते तू मुझे हरण करेगा तो जैसे मक्खी घीके पीते ही मृत्युके वश हो जाती है, वैसे ही तू भी कालके गालमें चला जायगा।' इससे यह सीखना चाहिये कि परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं। अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना चाहिये। परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको उसके चंगुलसे छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा लेंगे।

धर्मके लिये प्राण-त्यागकी तैयारी

विपत्तिमें पड़कर भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। इस विषयमें सीताका उदाहरण सर्वोत्तम है। लङ्काकी अशोक-वाटिकामें सीताका धर्म नाश करनेके लिये दुष्ट रावणकी ओरसे कम चेष्टाएँ नहीं हुईं। राक्षसियोंने सीताको भय और प्रलोभन दिखलाकर बहुत ही तंग किया, परन्तु सीता तो सीता ही थी। धर्मत्यागका प्रश्न तो वहाँ उठ ही नहीं सकता, सीताने तो छलसे भी अपने बाहरी बर्तावमें भी विपत्तिसे बचनेके हेतु कभी दोष नहीं आने दिया। उसके निर्मल और धर्मसे परिपूर्ण मनमें कभी बुरी स्फुरणा ही नहीं आ सकी। अपने धर्मपर

****

अटल रहती हुई सीता दुष्ट रावणका सदा तीव्र और नीतियुक्त शब्दोंमें तिरस्कार ही करती रही। एक बार रावणके वाग्बाणोंको न सह सकनेके समय और रावणके द्वारा मायासे श्रीराम-लक्ष्मणको मरे हुए दिखला देनेके कारण वह मरनेको तैयार हो गयी, परन्तु धर्मसे डिगनेकी भावना स्वप्नमें भी कभी उसके मनमें नहीं उठी। वह दिन-रात भगवान् श्रीरामके चरणोंके ध्यानमें लगी रहती थी। सीताजीने श्रीरामको हनुमान्‌के द्वारा जो सन्देश कहलाया, उससे पता लग सकता है कि उनकी कैसी पवित्र स्थिति थी—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

इससे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पतिके वियोगमें भीषण आपत्तियाँ आनेपर भी पतिके चरणोंका ध्यान रहे। मनमें भगवान्‌के बलपर पूरी वीरता, धीरता और तेज रहे। स्वधर्मके पालनमें प्राणोंकी भी आहुति देनेको सदा तैयार रहे। धर्म जाकर प्राण रहनेमें कोई लाभ नहीं, परन्तु प्राण जाकर धर्म रहनेमें ही कल्याण है—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'** (गीता ३।३५)।

सावधानी

सीताजीकी सावधानी देखिये। जब हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें सीताके पास जाते हैं तब सीता अपने बुद्धिकौशलसे सब प्रकार उनकी परीक्षा करती है। जबतक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता कि हनुमान् वास्तवमें श्रीरामचन्द्रके दूत हैं, शक्तिसम्पन्न हैं और मेरी खोजमें ही यहाँ आये हैं तबतक खुलकर बात नहीं करती है।

दाम्पत्य-प्रेम

जब पूरा विश्वास हो जाता है तब पहले स्वामी और देवरकी कुशल पूछती है, फिर आँसू बहाती हुई करुणापूर्ण शब्दोंमें कहती है— 'हनुमन्! रघुनाथजीका चित्त तो बड़ा ही कोमल है। कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है। फिर मुझसे वह इतनी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं? वह तो स्वभावसे ही सेवकको सुख देनेवाले हैं, फिर मुझे उन्होंने क्यों बिसार दिया

****

है ? क्या श्रीरघुनाथजी कभी मुझे याद भी करते हैं ? हे भाई ! कभी उस श्यामसुन्दरके कोमल मुखकमलको देखकर मेरी ये आँखें शीतल होंगी ? अहो ! नाथने मुझको बिलकुल भुला दिया ! इतना कहकर सीता रोने लगी, उसकी वाणी रुक गयी !!

बचनु न आव नयन भरे बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने जब श्रीरामका प्रेम-सन्देश सुनाते हुए यह कहा कि माता ! श्रीरामका प्रेम तुमसे दुगुना है। उन्होंने कहलवाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

यह सुनकर सीता गद्गद हो जाती है। श्रीसीता-रामका परस्पर कैसा आदर्श प्रेम है। जगत्‌के स्त्री-पुरुष यदि इस प्रेमको आदर्श बनाकर परस्पर ऐसा ही प्रेम करने लगें तो गृहस्थ सुखमय बन जाय।

पर-पुरुषसे परहेज

सीताजीने जयन्तकी घटना याद दिलाते हुए कहा—'हे कपिवर ! तू ही बता, मैं इस अवस्थामें कैसे जी सकती हूँ ? शत्रुको तपानेवाले श्रीराम-लक्ष्मण समर्थ होनेपर भी मेरी सुधि नहीं लेते, इससे मालूम होता है अभी मेरा दुःखभोग शेष नहीं हुआ है।' यों कहते-कहते जब सीताके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी तब हनुमान्‌ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि—'माता ! कुछ दिन धीरज रखो। शत्रुओंके संहार करनेवाले कृतात्मा श्रीराम और लक्ष्मण थोड़े ही समयमें यहाँ आकर रावणका वधकर तुम्हें अवधपुरीमें ले जायँगे। तुम चिन्ता न करो। यदि तुम्हारी विशेष इच्छा हो और मुझे आज्ञा दो तो मैं भगवान् श्रीरामकी और तुम्हारी दयासे रावणका वधकर और लंकाको नष्टकर तुमको प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जा सकता हूँ। अथवा हे देवि ! तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ, मैं आकाशमार्गसे होकर महासागरको लाँघ जाऊँगा। यहाँके राक्षस मुझे नहीं पकड़ सकेंगे। मैं

शीघ्र ही तुम्हें प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जाऊँगा।' हनुमान्‌के वचन सुनकर उनके बल-पराक्रमकी परीक्षा लेनेके बाद सीता कहने लगी—'हे वानरश्रेष्ठ ! पतिभक्तिका सम्यक् पालन करनेवाली मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको छोड़कर स्वेच्छासे किसी भी अन्य पुरुषके अंगका स्पर्श करना नहीं चाहती—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

(वा० रा० ५।३७।६२)

दुष्ट रावणने बलात् हरण करनेके समय मुझको स्पर्श किया था, उस समय तो मैं पराधीन थी, मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था। अब तो श्रीराम स्वयं यहाँ आवें और राक्षसोंसहित रावणका वध करके मुझे अपने साथ ले जायँ, तभी उनकी ज्वलन्त कीर्तिकी शोभा है।

भला विचारिये, हनुमान्-सरीखा सेवक, जो सीताजीको सच्चे हृदयसे मातासे बढ़कर समझता है और सीता-रामकी भक्ति करना ही अपने जीवनका परम ध्येय मानता है, सीता पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षाके लिये, इतने घोर विपत्तिकालमें अपने स्वामीके पास जानेके लिये भी उसका स्पर्श नहीं करना चाहती। कैसा अद्भुत धर्मका आग्रह है। इससे यह सीखना चाहिये कि भारी आपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषके अंगोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

वियोगमें व्याकुलता भगवान् श्रीराममें सीताका कितना प्रेम था और उनसे मिलनेके लिये उसके हृदयमें कितनी अधिक व्याकुलता थी, इस बातका कुछ पता हरणके समयसे लेकर लङ्का-विजयतकके सीताके विविध वचनोंसे लगता है, उस प्रसंगको पढ़ते-पढ़ते ऐसा कौन है जिसका हृदय करुणासे न भर जाय ? परंतु सीताजीकी सच्ची व्याकुलताका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि श्रीरघुनाथजी महाराज उसके लिये विरहव्याकुल स्त्रैण मनुष्यकी भाँति विह्वल होकर उन्मत्तवत् रोते और विलाप करते हुए ऋषिकुमारों, सूर्य, पवन,

****

पशु-पक्षी और जड वृक्षलताओंसे सीताका पता पूछते फिरते हैं—

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन्।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम्॥
लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किञ्चिद्यत्ते न नित्यं विदितं भवेत्तत्।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा॥

(वा० रा० ३। ६३। १६-१७)

लोकोंके कृत्याकृत्यको जाननेवाले हे सूर्यदेव! तू सत्य और असत्य कर्मोंका साक्षी है। मेरी प्रियाको कोई हर ले गया है या वह कहीं चली गयी है, इस बातको तू भलीभाँति जानता है। अतएव मुझ शोकपीड़ितको सारा हाल बतला। हे वायुदेव! तीनों लोकोंमें तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है, तेरी सर्वत्र गति है। हमारे कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाली सीता मर गयी, हरी गयी या कहीं मार्गमें भटक रही है, जो कुछ हो सो यथार्थ कह।

हा गुन खानि जानकी सीता।
रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती।
पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

× × ×

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।
मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महाविरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थी कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्‌का

यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४। ११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीलाकर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा

रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीरामके पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रिय पति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्रसदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परन्तु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुड़ाया, परन्तु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नजरसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपने इच्छानुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।'

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति।

(वा० रा० ६। ११५। २१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता। स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अङ्गोंमें भीषण घाव हो गये। वह फूट-फूटकर रोने लगी। फिर करुणाको भी करुणा-सागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उसने धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रखें। हे प्राणनाथ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे

****

शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी। इसमें तो दैवका ही दोष है। यदि आपको यही करना था, तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती!' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं, परन्तु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं—'हे सौमित्रे! ऐसे मिथ्यापवादसे कलङ्कित होकर मैं जीना नहीं चाहती। मेरे दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो। मेरे प्रिय पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे एक बार श्रीरामचन्द्रकी ओर देखा, परन्तु रामकी रुचिके अधीन रहनेवाले लक्ष्मणने आकार और संकेतसे श्रीरामकी रुख समझकर उनके इच्छानुसार चिता तैयार कर दी। सीताने प्रज्वलित अग्निके पास जाकर देवता और ब्राह्मणोंको प्रणामकर दोनों हाथ जोड़कर कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा० रा० ६। ११६। २५-२६)

'हे अग्निदेव! यदि मेरा मन कभी भी श्रीरामचन्द्रसे चलायमान न हुआ हो तो तुम मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो। श्रीरघुनाथजी महाराज मुझ शुद्ध चरित्रवाली या दुष्टाको जिस प्रकार यथार्थ जान सकें वैसे ही मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो, क्योंकि तुम सब लोकोंके साक्षी हो।' इतना कहकर अग्निकी प्रदक्षिणाकर सीता निःशङ्क हृदयसे अग्निमें प्रवेश कर गयी। सब ओर हाहाकार मच गया। ब्रह्मा, शिव, कुबेर, इन्द्र, यमराज और वरुण आदि देवता आकर श्रीरामको समझाने लगे। ब्रह्माजीने बहुत कुछ रहस्यकी बातें कहीं।

इतनेमें सर्वलोकोंके साक्षी भगवान् अग्निदेव सीताको गोदमें लेकर अकस्मात् प्रकट हो गये और वैदेहीको श्रीरामके प्रति अर्पण करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा ॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥
रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली ।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥

(वा०रा० ६ । ११८ । ५-१०)

'राम ! इस अपनी वैदेही सीताको ग्रहण करो। इसमें कोई भी पाप नहीं है। हे चरित्राभिमानी राम ! इस शुभलक्षणा सीताने वाणी, मन, बुद्धि या नेत्रोंसे कभी तुम्हारा उल्लंघन नहीं किया। निर्जन वनमें जब तुम इसके पास नहीं थे तब यह बेचारी निरुपाय और विवश थी। इसीसे बलगर्वित रावण इसे बलात् हर ले गया था। यद्यपि इसको अन्तःपुरमें रखा गया था और क्रूर-से-क्रूर स्वभाववाली राक्षसियाँ पहरा देती थीं, अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये जाते थे और तिरस्कार भी किया जाता था, परन्तु तुम्हारेमें मन लगानेवाली, तुम्हारे परायण हुई सीताने तुम्हारे सिवा दूसरेका कभी मनसे विचार ही नहीं किया। इसका अन्तःकरण शुद्ध है, यह निष्पाप है, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम किसी प्रकारकी भी शंका न करके इसको ग्रहण करो।'

अग्निदेवके वचन सुनकर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए,

****

उनके नेत्र हर्षसे भर आये और उन्होंने कहा—

'हे अग्निदेव ! इस प्रकार सीताकी शुद्धि आवश्यक थी, मैं यों ही ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि दशरथपुत्र राम मूर्ख और कामी है। (कुछ लोग सीताके शीलपर भी सन्देह करते जिससे उसका गौरव घटता, आज इस अग्नि-परीक्षासे सीताका और मेरा दोनोंका मुख उज्ज्वल हो गया है।) मैं जानता हूँ कि जनक-नन्दिनी सीता अनन्यहृदया और सर्वदा मेरे इच्छानुसार चलनेवाली है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी अपने तेजसे मर्यादामें रहनेवाली है। दुष्टात्मा रावण प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान अप्राप्त इस सीताका स्पर्श नहीं कर सकता था। सूर्य-कान्ति-सदृश सीता मुझसे अभिन्न है। जैसे आत्मवान् पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी तीनों लोकोंमें विशुद्ध इस सीताका वास्तवमें कभी त्याग नहीं कर सकता।'

इतना कहकर भगवान् श्रीराम प्रिया सती सीताको ग्रहणकर आनन्दमें निमग्न हो गये। इस प्रसंगसे यह सीखना चाहिये कि स्त्री किसी भी हालतमें पतिपर नाराज न हो और उसे संतोष करानेके लिये न्याययुक्त उचित चेष्टा करे।

गृहस्थ-धर्म

सीता अपने स्वामी और देवरके साथ अयोध्या लौट आती है। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करती है। सब ओर सुख छा जाता है। अब सीता अपनी सासुओंकी सेवामें लगती है और उनकी ऐसी सेवा करती है कि सबको मुग्ध हो जाना पड़ता है। सीताजी गृहस्थका सारा काम सुचारुरूपसे करती हैं जिससे सभी सन्तुष्ट हैं। इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि विदेशसे लौटते ही सास और सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम करना और सास आदिकी सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये एवं गृहस्थका सारा कार्य सुचारुरूपसे करना चाहिये।

समान-व्यवहार

श्रीसीताजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन देवरोंके साथ पुत्रवत् बर्ताव करती थीं और खानपान आदिमें किसी प्रकारका भी भेद नहीं रखती थीं। स्वामी श्रीरामके लिये जैसा भोजन बनता था ठीक वैसा ही

***

सीताजी अपने देवरोंके लिये बनाती थीं। देखनेमें यह बात छोटी-सी मालूम होती है किन्तु इसी बर्तावमें दोष आ जानेके कारण केवल खानेकी वस्तुओंमें भेद रखनेसे आज भारतमें हजारों सम्मिलित कुटुम्बोंकी बुरी दशा हो रही है। सीताजीके इस बर्तावसे स्त्रियोंको खान-पानमें समान व्यवहार रखनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सीता-परित्याग

एक समय भगवान् राम गुप्तचरोंके द्वारा सीताके सम्बन्धमें लोकापवाद सुनकर बहुत ही शोक करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगे कि 'भाई ! मैं जानता हूँ कि सीता पवित्र और यशस्विनी है, लङ्कामें उसने तेरे सामने जलती हुई अग्निमें प्रवेश करके अपनी परीक्षा दी थी और सर्वलोक-साक्षी अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर समस्त देवता और ऋषियोंके सामने सीताके पापरहित होनेकी घोषणा की थी तथापि इस लोकापवादके कारण मैंने सीताके त्यागका निश्चय कर लिया है। इसलिये तू कल प्रातःकाल ही सुमन्त्र सारथीके रथमें बैठाकर सीताको गंगाके उस पार तमसा नदीके तीरपर महात्मा वाल्मीकिके आश्रमके पास निर्जन वनमें छोड़कर चला आ। तुझे मेरे चरणोंकी और जीवनकी शपथ है, इस सम्बन्धमें तू मुझसे कुछ भी न कहना। सीतासे भी अभी कुछ न कहना।' लक्ष्मणने दुःखभरे हृदयसे मौन होकर आज्ञा स्वीकार की और प्रातःकाल ही सुमन्त्रसे कहकर रथ जुड़वा लिया।

सीताजीने एक बार मुनियोंके आश्रमोंमें जानेके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की थी, अतएव लक्ष्मणके द्वारा वन जानेकी बात सुनकर सीताजीने यही समझा कि स्वामीने ऋषियोंके आश्रमोंमें जानेकी आज्ञा दी है और वह ऋषिपत्नियोंको बाँटनेके लिये बहुमूल्य गहने-कपड़े और विविध प्रकारकी वस्तुएँ लेकर वनके लिये विदा हो गयी। मार्गमें अशकुन होते देखकर सीताने लक्ष्मणसे पूछा—'भाई ! अपने नगर और घरमें सब प्रसन्न तो हैं न ?' लक्ष्मणने कहा—'सब कुशल है।' यहाँतक तो लक्ष्मणने सहन किया, परन्तु गंगाके तीरपर पहुँचते ही मर्मवेदनासे लक्ष्मणका हृदय भर आया और वह दीनकी भाँति फूट-

फूटकर रोने लगा। संयमशील धर्मज्ञ लक्ष्मणको रोते देखकर सीता कहने लगी—'भाई! तुम रोते क्यों हो? हमलोग गंगातीर ऋषियोंके आश्रमोंके समीप आ गये हैं, यहाँ तो हर्ष होना चाहिये, तुम उलटा खेद कर रहे हो। तुम तो रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास ही रहते हो, क्या दो रात्रिके वियोगमें ही शोक करने लगे? हे पुरुषश्रेष्ठ! मुझको भी राम प्राणाधिक प्रिय हैं, पर मैं तो शोक नहीं करती, इस लड़कपनको छोड़ो और गंगाके उस पार चलकर मुझे तपस्वियोंके दर्शन कराओ। महात्माओंको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाँटकर और यथायोग्य उनकी पूजाकर एक ही रात रह हमलोग वापस लौट आवेंगे। मेरा मन भी कमलनेत्र, सिंहसदृश वक्षःस्थलवाले, आनन्ददाताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामको देखनेके लिये उतावला हो रहा है।'

लक्ष्मणने इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया और सीताके साथ नौकापर सवार हो गंगाके उस पार पहुँचकर फिर उच्च स्वरसे रोना शुरू कर दिया। सीताजीके बारम्बार पूछने और आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने सिर नीचा करके गद्गद वाणीसे लोकापवादका प्रसंग वर्णन करते हुए कहा—'सीते! तुम निर्दोष हो, किन्तु श्रीरामने तुमको त्याग दिया है। अब तुम श्रीरामको हृदयमें धारण करके पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई वाल्मीकि मुनिके आश्रंममें रहो।'

लक्ष्मणके इन दारुण वचनोंको सुनते ही सीता मूर्च्छित-सी होकर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद होश आनेपर रोकर विलाप करने लगी और बोली—'हे लक्ष्मण! विधाताने मेरे शरीरको दुःख भोगनेके लिये रचा है। मालूम नहीं, मैंने कितनी जोड़ियोंको बिछुड़ाया था, जिससे आज मैं शुद्ध आचरणवाली सती होनेपर भी धर्मात्मा प्रिय पति रामके द्वारा त्यागी जाती हूँ। हे लक्ष्मण! पूर्वकालमें जब मैं वनमें थी तब तो स्वामीकी सेवाका सौभाग्य मिलनेके कारण वनके दुःखोंमें भी सुख मानती थी, परन्तु हे सौम्य! अब प्रियतमके वियोगमें मैं आश्रममें कैसे रह सकूँगी? जन्म-दुःखिनी मैं [illegible] सुनाऊँगी? हे प्रभो! महात्मा, ऋषि, मुनि जब मुझसे

श्रीरघुनाथजीने क्यों त्याग दिया, क्या तुमने कोई बुरा कर्म किया था ? तो मैं क्या जवाब दूँगी। हे सौमित्रे ! मैं आज ही इस भागीरथीमें डूबकर अपना प्राण दे देती, परन्तु मेरे अन्दर श्रीरामका वंश-बीज है, यदि मैं डूब मरूँ तो मेरे स्वामीका वंश नाश हो जायगा। इसीलिये मैं मर भी नहीं सकती। हे लक्ष्मण ! तुमको राजाज्ञा है तो तुम मुझ अभागिनीको यहीं छोड़कर चले जाओ, परन्तु मेरी कुछ बातें सुनते जाओ।

'मेरी ओरसे मेरी सारी सासुओंका हाथ जोड़कर चरणवन्दन करना और फिर महाराजको मेरा प्रणाम कहकर कुशल पूछना। हे लक्ष्मण ! सबके सामने सिर नवाकर मेरा प्रणाम कहना और धर्ममें सदा सावधान रहनेवाले महाराजसे मेरी ओरसे यह निवेदन करना—

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः॥
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥
यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।

(वा० रा० ७।४८।१२—१८)

'हे राघव ! आप जिस प्रकार मुझको तत्त्वसे शुद्ध समझते हैं उसी प्रकार

नित्य अपनेमें भक्तिवाली और अनुरक्त चित्तवाली भी समझियेगा। हे वीर! मैं जानती हूँ कि आपने लोकापवादको दूर करने और अपने कुलकी कीर्ति कायम रखनेके लिये ही मुझको त्याग दिया है, परन्तु मेरे तो आप ही परमगति हैं। हे महाराज! आप जिस प्रकार अपने भाइयोंके साथ बर्ताव करते हैं, प्रजाके साथ भी वही बर्ताव कीजियेगा। हे राघव! यही आपका परम धर्म है और इसीसे उत्तम कीर्ति मिलती है। हे स्वामिन्! प्रजापर धर्मयुक्त शासन करनेसे ही पुण्य प्राप्त होता है। अतएव ऐसा कोई बर्ताव न कीजियेगा जिससे प्रजामें अपवाद हो। हे रघुनन्दन! मुझे अपने शरीरके लिये तनिक भी शोक नहीं है, क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। नित्य प्राणाधिक प्रिय पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना, स्त्रीका यह स्वाभाविक धर्म ही है।' क्या ही मार्मिक शब्द हैं! धन्य सती सीता, धन्य धर्मप्रेम और प्रजावत्सलता! धन्य भारतका सतीधर्म!! धन्य भारतीय देवियोंका अपूर्व त्याग!!!

सीताजी कहने लगीं—'हे लक्ष्मण! मेरा यह सन्देश महाराजसे कह देना। भाई! एक बात और है, मैं इस समय गर्भवती हूँ, तुम मेरी ओर देखकर इस बातका निश्चय करते जाओ, कहीं संसारमें लोग यह अपवाद न करें कि सीता वनमें जाकर सन्तान प्रसव करती है।'

सीताके इन वचनोंको सुनकर दीनचित्त लक्ष्मण व्याकुल हो उठे और सिर झुकाकर सीताके पैरोंमें गिर फुफकार मारकर जोर-जोरसे रोने लगे। फिर उठकर सीताजीकी प्रदक्षिणा की और दो घड़ीतक ध्यान करनेके बाद बोले—'माता! हे पापरहिता सीते! तुम क्या कह रही हो? मैंने आजतक तुम्हारे चरणोंका ही दर्शन किया है, कभी स्वरूप नहीं देखा। आज भगवान् रामके परोक्ष मैं तुम्हारी ओर कैसे ताक सकता हूँ?' तदनन्तर प्रणाम करके वह रोते हुए नावपर सवार होकर लौट गये और इधर सीता—दुःखभारसे पीड़िता आदर्श पतिव्रता सती सीता—अरण्यमें गला फाड़कर रोने लगी। सीताजीके

रुदनको सुनकर वाल्मीकिजी उसे अपने आश्रममें ले गये।

इस प्रसङ्गसे जो कुछ सीखा जा सकता है वही भारतीय देवियोंका परम धर्म है। सीताजीके उपर्युक्त शब्दोंका नित्य पाठ करना चाहिये और उनके रहस्यको अपने जीवनमें उतारना चाहिये। लक्ष्मणके बर्तावसे भी हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पदमें माताके समान होनेपर भी पुरुष किसी भी स्त्रीके अङ्ग न देखे। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने अङ्ग किसीको न दिखावें। वाल्मीकिजीके आश्रममें सीता ऋषिकी आज्ञासे अन्तःपुरमें ऋषिपत्नीके पास रही, इससे यह सीखना चाहिये कि यदि कभी दूसरोंके घर रहनेका अवसर आवे तो स्त्रियोंको अन्तःपुरमें रहना चाहिये और इसी प्रकार किसी दूसरी स्त्रीको अपने यहाँ रखना हो तो स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरमें ही रखना चाहिये।

जो स्त्री अपने धर्मका प्राणपणसे पालन करती है, अन्तमें उसका परिणाम

पाताल-प्रवेश अच्छा ही होता है। जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अश्वमेध-यज्ञ करते हैं और लव-कुशके द्वारा रामायणका गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं तब लव-कुशकी पहचान होती है और श्रीरामकी आज्ञासे सीता वहाँ बुलायी जाती है। सीता श्रीरामका ध्यान करती हुई सिर नीचा किये हाथ जोड़कर वाल्मीकि ऋषिके पीछे-पीछे रोती हुई आ रही है। वाल्मीकि मुनि सभामें आकर जो कुछ कहते हैं उससे सारा लोकापवाद मिट जाता है और सारा देश सीतारामके जय-जयकारसे ध्वनित हो उठता है। वाल्मीकिने सीताके निष्पाप होनेकी बात कहते हुए यहाँतक कह डाला कि 'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हो तो मेरे तपके सारे फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिद्वारा विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।' वाल्मीकिकी प्रतिज्ञाको सुनकर और सीताको सभामें आयी हुई देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और कहने लगे कि 'हे महाभाग! मैं जानता हूँ कि जानकी शुद्धा है, लव-कुश मेरे ही

****

पुत्र हैं, मैं राजधर्म-पालनके लिये ही प्रिया सीताका त्याग करनेको बाध्य हुआ था। अतएव आप मुझे क्षमा करें।'

उस सभामें ब्रह्मा, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, वायु, साध्य, महर्षि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि बैठे हुए हैं, उन सबके सामने राम फिर यह कहते हैं कि 'इस जगत्में वैदेही शुद्ध है और इसपर मेरा पूर्ण प्रेम है'—

शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे।

(वा० रा० ७। ९७। ५)

इतनेमें काषायवस्त्र धारण किये हुए सती सीता नीची गर्दन कर श्रीरामका ध्यान करती हुई भूमिकी ओर देखने लगी और बोली—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

(वा० रा० ७। ९७। १४—१६)

'यदि मैंने रामको छोड़कर किसी दूसरेका कभी मनसे भी चिन्तन न किया हो तो हे माधवी देवी! तू मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैंने मन, कर्म और वाणीसे केवल रामका ही पूजन किया हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैं रामके सिवा और किसीको भी न जानती होऊँ यानी केवल रामको ही भजनेवाली हूँ, यह सत्य हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें स्थान दे और हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे।'

इन तीन शपथोंके करते ही अकस्मात् धरती फट गयी, उसमेंसे एक उत्तम और दिव्य सिंहासन निकला, दिव्य सिंहासनको दिव्य देह और दिव्य

वस्त्राभूषणधारी नागोंने अपने मस्तकपर उठा रखा था और उसपर पृथिवी देवी बैठी हुई थीं। पृथिवी देवीने सीताका दोनों हाथोंसे आलिङ्गन किया और 'हे पुत्री ! तेरा कल्याण हो।' कहकर उसे गोदमें बैठा लिया। इतनेमें सबके देखते-देखते सिंहासन रसातलमें प्रवेश कर गया। सती सीताके जय-जयकारसे त्रिभुवन भर गया !

सीता-परित्यागके हेतु

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् श्रीराम बड़े दयालु और न्यायकारी थे, उन्होंने निर्दोष जानकर भी सीताका त्याग क्यों किया ?' इसमें प्रधानतः निम्नलिखित पाँच कारण हैं, इन कारणोंपर ध्यान देनेसे सिद्ध हो जायगा कि रामका यह कार्य सर्वथा उचित था—

१—रामके समीप इस प्रकारकी बात आयी थी—

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥

(वा० रा० ७।४३।१९)

—कि 'रामने रावणके घरमें रहकर आयी हुई सीताको घरमें रख लिया इसलिये अब यदि हमारी स्त्रियाँ भी दूसरोंके यहाँ रह आवेंगी तो हम भी इस बातको सह लेंगे, क्योंकि राजा जो कुछ करता है प्रजा उसीका अनुसरण करती है।' प्रजाकी इस भावनासे भगवान्‌ने यह सोचा कि सीताका निर्दोष होना मेरी बुद्धिमें है। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। वे तो इससे यही शिक्षा लेंगे कि परपुरुषके घर बिना बाधा स्त्री रह सकती है, ऐसा होनेसे स्त्री-धर्म बिलकुल बिगड़ जायगा, प्रजामें वर्णसङ्करताकी वृद्धि होगी, अतएव प्रजाके धर्मकी रक्षाके लिये प्राणाधिका सीताका त्याग कर देना चाहिये। सीताके त्यागमें रामको बड़ा दुःख था, उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। उनके हृदयकी दशाका पूरा अनुभव तो कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु वाल्मीकिरामायण और उत्तररामचरितको पढ़नेसे किञ्चित् दिग्दर्शन हो सकता है। श्रीरामने यहाँ प्रजाधर्मकी रक्षाके लिये व्यक्तिधर्मका बलिदान कर दिया। प्रजारञ्जनके

यज्ञानलमें आत्मस्वरूपा सीताकी आहुति दे डाली। इससे उनके प्रजाप्रेमका पता लगता है। सीता राम हैं और राम सीता हैं, शक्ति और शक्तिमान् मिलकर ही जगत्का नियन्त्रण करते हैं, अतएव सीताके त्यागमें कोई आपत्ति नहीं। इस लोकसंग्रहके हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

२—चाहे थोड़ी ही संख्यामें हो सीताका झूठा अपवाद करनेवाले लोग थे। यह अपवाद त्यागके बिना मिट नहीं सकता था और यदि सीता वाल्मीकिके आश्रममें रहकर उनके द्वारा प्रतिज्ञाके साथ शुद्ध न कही जाती और पृथिवीमें न समाती तो शायद यह अपवाद मिटता भी नहीं, सम्भव है और बढ़ जाता और सीताका नाम आज जिस भावसे लिया जाता है शायद वैसे न लिया जाता। इस हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

३—सीता श्रीरामकी परम भक्ता थी, उनकी आश्रिता थी, उनकी परम प्यारी अर्द्धाङ्गिनी थी, ऐसी परम पुनीता सतीको निष्ठुरताके साथ त्यागनेका दोष भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर इसीलिये ले लिया कि इससे सीताके गौरवकी वृद्धि हुई, सीताका झूठा कलङ्क भी मिट गया और सीता जगत्पूज्या बन गयी। भगवान् अपने भक्तोंका गौरव बढ़ानेके लिये अपने ऊपर दोष ले लिया करते हैं और यही यहाँपर भी हुआ।

४—अवतारका लीलाकार्य प्रायः समाप्त हो चुका था, देवतागण सीताजीको इस बातका सङ्केत कर गये थे। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि 'दस हजार वर्षतक मायामनुष्यरूपधारी भगवान् विधिपूर्वक राज्य करते रहे और सब लोग उनके चरण-कमलोंको पूजते रहे। भगवान् श्रीराम राजर्षि परम पवित्र एक-पत्नीव्रती थे और लोकसंग्रहके लिये गृहस्थके सब धर्मोंका यथाविधि पालन करते थे। पतिप्राणा सीताजी प्रेम, अनुकूल आचरण, नम्रता, इन्द्रियोंका दमन, लज्जा और प्रतिकूल आचरणमें भय आदि गुणोंके द्वारा भगवान्का भाव समझकर उनके मनको प्रसन्न करती थीं। एक समय श्रीराम पुष्प-वाटिकामें बैठे हुए थे और सीताजी उनके कोमल चरणोंको दबा रही थीं।

****

सीताजीने एकान्त देखकर भगवान्‌से कहा कि हे देवदेव ! आप जगत्‌के स्वामी, परमात्मा, सनातन, सच्चिदानन्दघन और आदि-मध्यान्तरहित तथा सबके कारण हैं। हे देव ! उस दिन इन्द्रादि देवताओंने मेरे पास आकर स्तुति करते हुए यह कहा कि 'हे जगन्माता ! तुम भगवान्‌की चित्-शक्ति हो, तुम पहले वैकुण्ठ पधारनेकी कृपा करो तो भगवान् राम भी वैकुण्ठ पधारकर हमलोगोंको सनाथ करेंगे।' देवताओंने जो कुछ कहा था सो मैंने निवेदन कर दिया है। मैं कोई आज्ञा नहीं करती, आप जैसा उचित समझें वैसा करें।' क्षणभर सोचकर भगवान्‌ने कहा कि—

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात्॥
भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः॥

(अ० रा० ७।४।४१—४४)

'हे देवि ! मैं सब कुछ जानता हूँ और तुमको एक उपाय बतलाता हूँ। हे सीते ! मैं तुम्हारे लोकापवादका बहाना रचकर साधारण मनुष्यकी तरह लोकापवादके भयसे तुमको वनमें त्याग दूँगा। वहाँ वाल्मीकिके आश्रममें तुम्हारे दो पुत्र होंगे, क्योंकि इस समय तुम्हारे गर्भ है। तदनन्तर तुम मेरे पास आ लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये बड़े आदरसे—शपथ खा पृथिवीके विवरमें प्रवेशकर तुरन्त वैकुण्ठको चली जाओगी और पीछेसे मैं भी आ जाऊँगा। यही निश्चय है।' यह भी सीताके त्यागका एक कारण है।

५—पूर्वकालमें एक समय युद्धमें देवताओंसे हारकर भागे हुए दैत्य

भृगुजीकी स्त्रीके आश्रयमें चले गये और ऋषि-पत्नीसे अभय प्राप्तकर निर्भय हो वहाँ रहने लगे थे। 'दैत्योंको भृगु-पत्नीने आश्रय दिया।' इस बातसे कुपित होकर भगवान् विष्णुने उसका चक्रसे सिर काट डाला था। पत्नीको इस प्रकार मारे जाते देखकर भृगु ऋषिने क्रोधमें हतज्ञान होकर भगवान्को शाप दिया था कि 'हे जनार्दन! आपने कुपित होकर मेरी अवध्य पत्नीको मार डाला, इसलिये आपको मनुष्यलोकमें जन्म लेना होगा और दीर्घकालतक पत्नी-वियोग सहना पड़ेगा।' भगवान्ने लोकहितके लिये इस शापको स्वीकार किया और उसी शापको सत्य करनेके लिये अपनी अभिन्न शक्ति सीताको लीलासे ही वनमें भेज दिया।

इत्यादि अनेक कारणोंसे सीताका निर्वासन रामके लिये उचित ही था। असली बात तो यह है कि भगवान् राम और सीता साक्षात् नारायण और शक्ति हैं। एक ही महान् तत्त्वके दो रूप हैं। उनकी लीला वे ही जानें, हमलोगोंको आलोचना करनेका कोई अधिकार नहीं। हमें तो चाहिये कि उनकी दिव्य लीलाओंसे लाभ उठावें और अपने मनुष्य-जीवनको पवित्र करें।

मानवलीलामें श्रीसीताजी इस बातको प्रमाणित कर गयीं कि बिना दोष भी यदि स्वामी स्त्रीको त्याग दे तो स्त्रीका कर्तव्य है कि इस विपत्तिमें दुःखमय जीवन बिताकर भी अपने पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षा करे, परिणाम उसका कल्याण ही होगा।

सत्य और न्याय अन्तमें अवश्य ही शुभ फल देंगे, सीताने अपने जीवनमें कठोर परीक्षाएँ देकर स्त्रीमात्रके लिये यह मर्यादा स्थापित कर दी कि जो स्त्री

उपसंहार

आपत्तिकालमें सीताकी भाँति धर्मका पालन करेगी उसकी कीर्ति संसारमें सदाके लिये प्रकाशित हो जायगी। सीतामें पतिभक्ति, सीताका भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ निर्दोष वात्सल्य-प्रेम, सासुओंके प्रति सेवाभाव, सेवकोंके साथ प्रेमका बर्ताव, नैहर और ससुरालमें सबके साथ आदर्श प्रीति और सबके सम्मान करनेकी चेष्टा, ऋषियोंकी सेवा, लव-कुश-जैसे

****

वीर पुत्रोंका मातृत्व, उनको शिक्षा देनेकी पटुता, साहस, धैर्य, तप, वीरत्व और आदर्श धर्मपरायणता आदि सभी गुण पूर्ण विकसित और सर्वथा अनुकरणीय हैं। हमारी जो माताएँ और बहनें प्रमाद, मोह और आसक्तिको त्यागकर सीताके चरित्रका अनुकरण करेंगी उनके अपने कल्याणमें तो शङ्का ही क्या है, वे अपने पति और पुत्रोंको भी तार सकती हैं। अधिक क्या, जिसपर उनकी दया हो जायगी उसका भी कल्याण होना सम्भव है। ऐसी सती-शिरोमणि पतिव्रता स्त्री दर्शन और पूजनके योग्य है। मनुष्योंके द्वारा ही नहीं बल्कि देवताओंके द्वारा भी वह पूजनीय है और अपने चरित्रसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाली है।

यद्यपि श्रीसीताजी साक्षात् भगवती और परमात्माकी शक्ति थीं तथापि उन्होंने अपने मनुष्य-जीवनमें लोकशिक्षाके लिये जो चरित्र किया है, वे सब ऐसे हैं कि जिनका अनुकरण सभी स्त्रियाँ कर सकती हैं। संसारकी मर्यादाके लिये ही सीता-रामका अवतार था। अतएव उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक न होकर ऐसे व्यावहारिक थे कि जिनको काममें लाकर हमलोग लाभ उठा सकते हैं। जो स्त्री या पुरुष यह कहकर कर्तव्यसे छूटना चाहते हैं कि 'श्रीसीता-राम साक्षात् शक्ति और ईश्वर थे, हम उनके चरित्रोंका अनुकरण नहीं कर सकते।' वे कायर और अभक्त हैं। वे श्रीरामको ईश्वरका अवतार केवल कथनभरके लिये ही मानते हैं। सच्चे भक्तोंको तो श्रीराम-सीताके चरित्रका यथार्थ अनुकरण ही करना चाहिये।

*****

तेईस प्रश्न

* * * *

एक सज्जनके प्रश्न हैं—(प्रश्नोंकी भाषा कुछ सुधार दी गयी है, भाव वही हैं। लेख बड़ा होनेसे बचनेके लिये उत्तर संक्षेपमें ही दिया गया है।)

प्र०—जीव कितनी जातिके होते हैं और जीवोंके कितने भेद होते हैं?

उ०—आत्मरूपसे जीव एक ही है। परन्तु शरीरोंके सम्बन्धभेदसे उसकी अनन्त जातियाँ हैं। शास्त्रोंमें स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुजभेदसे चौरासी लाख जातियाँ मानी गयी हैं।

प्र०—जीवके कर्ता-हर्ता भगवान् हैं या नहीं?

उ०—शरीरके कर्ता-हर्ता तो ईश्वर हैं। जीव आत्मरूपसे अनादि है, उसका कोई कर्ता नहीं।

प्र०— जीवके कर्म साथ हैं या नहीं?

उ०—जीवके कर्म अनादि हैं और जबतक उसको सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक साथ रहते हैं।

प्र०—जीव और कर्म एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न?

उ०—जीव और कर्म भिन्न-भिन्न वस्तु है। जीव चेतन और नित्य है। कर्म जड और अनित्य है।

प्र०—जीवके कर्म जन्मसे साथ हैं या अनादि हैं?

उ०—इस प्रश्नका उत्तर तीसरे उत्तरमें दिया जा चुका है। विशेष देखना हो तो 'कल्याण'-प्राप्तिके उपाय' में प्रकाशित 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र?', 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेख देखने चाहिये।

****

प्र०—पुण्य और धर्म एक ही वस्तु है या दो ?

उ०—पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न है। पुण्य उस सुकृतको कहते हैं जो धर्मका एक प्रधान अङ्ग है और धर्म कर्तव्य-पालनको कहते हैं। धर्मके सम्बन्धमें विशेष जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'धर्म क्या है ?' नाम्नी पुस्तिका देखनी चाहिये।

प्र०—पाप और अधर्म एक ही वस्तु है या दो ?

उ०—पाप और अधर्म भिन्न-भिन्न है। दुष्कृत यानी निषिद्ध कर्मको पाप कहते हैं जो अधर्मका एक प्रधान अङ्ग है और कर्तव्य-विरुद्ध कर्म करने अथवा कर्तव्यके परित्याग करनेको अधर्म कहते हैं।

प्र०—धर्म हिंसामें है या अहिंसामें ?

उ०—धर्म अहिंसामें है। परन्तु ऐसी क्रिया जो देखनेमें हिंसाके सदृश प्रतीत होती है, पर जो निःस्वार्थभावसे परिणाममें (जिसके प्रति हिंसा-सी दीखती है) उस व्यक्तिके हितके लिये अथवा लोक-हितके लिये की जाती है, वह वास्तवमें हिंसा नहीं है।

प्र०—दया कितने प्रकारकी होती है तथा कौन-सी दयाके पालनसे पुण्य होता है ?

उ०—मेरी समझसे दया मुख्यतः एक ही प्रकारकी होती है। दुःखी जीवोंका किसी प्रकारसे भी हित हो, ऐसे विशुद्ध भावका नाम दया है।

प्र०—किन लक्षणोंवाले ब्राह्मणको दान देनेसे पुण्य होता है ?

उ०—शास्त्रोंके ज्ञाता और गीताकथित ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मण सब प्रकारसे दानके पात्र हैं। गीतामें ब्राह्मणके लक्षण यह बतलाये हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(१८।४२)

****

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्टसहनरूप तप, क्षमा, मन-इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र-ज्ञान और परमात्म-तत्त्वका अनुभव—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।'

प्र०—सुपात्र साधुके लक्षण क्या हैं और उनके कैसे कर्म होते हैं?

उ०—साधुके लक्षण और कर्म ऐसे होने चाहिये—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(गीता १३।७—११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणिमात्रको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणीकी सरलता, श्रद्धा-भक्ति-सहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका अभाव, जन्म-मृत्यु-जरा-रोग आदिमें बारम्बार दुःख-दोषोंका विचार करना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलकी प्राप्तिमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना। परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त

---

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और

...ोंके समुदायमें प्रेम न होना, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके
...रूप परमात्माको सर्वत्र देखना—ये ज्ञानके (साधन) हैं,जो इससे विपरीत
...वही अज्ञान है, ऐसा कहा गया है।' इनके अतिरिक्त भगवान्ने अपने प्यारे
...क्तोंके निम्नलिखित लक्षण और कर्म बतलाये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२।१३—२...

(जो पुरुष) 'सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रे...

अभिमानका त्याग करके श्रद्धा और भावसहित परम प्रेमसे भगवान्का निरन्तर ...
करना अव्यभिचारिणी भक्ति है।

****

हेतुरहित दयालु, ममतासे रहित, अहंकारादिसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मुझ (भगवान्) में दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी, मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्र और मान-अपमानमें सम है तथा जो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है, जो जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है, अपने रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है। जो मेरे परायण हुए श्रद्धायुक्त पुरुष इस उपर्युक्त धर्ममय अमृतको निष्कामभावसे सेवन करते हैं वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

ऐसे भगवान्‌के प्यारे पुरुष ही वास्तवमें सर्वथा सुपात्र साधु हैं।

प्र०—भगवान् किसे कहते हैं? भगवान्‌के क्या लक्षण हैं?

उ०—भगवान् वास्तवमें अनिर्वचनीय हैं, जिसको भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वसे ज्ञान है, वही उनको जानता है परन्तु वह भी वाणीसे उनका वर्णन नहीं

कर सकता। भगवान्‌के सम्बन्धमें विस्तारसे जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं ?' नामक पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्र०—सुपात्र मनुष्यके क्या लक्षण हैं ?

उ०—सुपात्र मनुष्य वही है, जिसमें दैवी-सम्पदाके गुण विकसित हों। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६।१—३)

'हे अर्जुन! सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्नि-होत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवत्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट नहीं देना, सबसे यथार्थ और प्रियभाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोध न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव दैवी-सम्पदा

****

को प्राप्त हुए पुरुषके ये (२६) लक्षण हैं।'

प्र०—मुक्ति-धर्म और सांसारिक धर्म एक है या दो ? मनुष्यको कौन-से धर्मका पालन करना चाहिये, जिससे मुक्तिकी प्राप्ति हो ?

उ०—क्रियाके स्वरूपसे अलग-अलग है। सांसारिक धर्म भी निष्काम-भावसे किया जाय तो वह भी मुक्तिदायक हो सकता है। मुक्ति-धर्म तो मुक्तिदायक है ही। वर्णभेदके अनुसार सांसारिक धर्मका स्वरूप और निष्कामभावसे भगवत्-पूजाके रूपमें किये जानेपर परमसिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्तिका विवेचन गीता १८वें अध्यायके श्लोक ४१ से ४६ तक और मुक्ति-धर्म यानी ज्ञाननिष्ठाका स्वरूप १८वें अध्यायके श्लोक ४९ से ५५ तक देखना चाहिये।

प्र०—स्वर्ग और देवताओंका भवन एक ही है या दो ?

उ०—एक ही है, देवताओंके भिन्न-भिन्न लोकोंको ही स्वर्ग कहते हैं।

प्र०—किन-किन देवताओंका स्मरण करना चाहिये, जिससे जीवका निस्तार हो ?

उ०—परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, परम उदार, विज्ञानानन्दमय, नित्य, चेतन, अनन्त, शान्त, सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता परमात्मदेव एक ही है। उसीको लोग ब्रह्म, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, शक्ति, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, जिहोवा, गॉड आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। इस भावनासे ऐसे परमात्माके किसी भी नाम-रूपका स्मरण-पूजन करनेसे जीवका निस्तार हो सकता है।

प्र०—जीव कौन-कौन-सी गतिमें जाते हैं ?

उ०—नीच कर्म करनेवाले तामसी पापी जीव नरकोंमें जाते हैं। नारकीय गतिके दो भेद हैं—स्थानविशेष और योनिविशेष। रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें यमराजके द्वारा जो यातना मिलती है वह स्थानविशेषकी गति है और देव, पितर, मनुष्यके अतिरिक्त पशु, पक्षी,

[illegible] कर्मोंसे उच्च [illegible] देवलोककी गति मानी जाती है। राजसी कर्म [illegible] मनुष्यलोकको प्राप्त होते हैं और सात्त्विक पुरुष ऊँची गति— [illegible] जाते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(१४।१८)

सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते है एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।

प्र०—स्वर्गमें गया हुआ जीव वापस आता है या नहीं ? क्या कोई वापस आया है ?

उ०—मुक्त होनेपर जीव वापस नहीं आते। स्वर्गमें गये हुए जीव वापस आते हैं। गीतामें कहा है—'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्म करनेवाले, सोमरसका पान करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देव-ऋणरूप पापसे मुक्त हुए पुरुष मुझको यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरु[illegible] अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओं[illegible] भोगोंको भोगते हैं और वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षी[illegible] होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदो[illegible] कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारम्[illegible] जाने-आनेमें ही लगे रहते है।' (९।२०-२१) इससे वापस आना सिद्ध[illegible] प्राचीनकालमें महाराजा त्रिशंकु, ययाति, नहुष आदि अनेक वापस आये हैं।

प्र०—देवताओंके भवनमें गया हुआ जीव फिर इस संसारमें आ[illegible] सकता है या नहीं ?

उ०—निष्काम साधक जो अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोकको जाते हैं, वापस [illegible]

****

आते। वे क्रममुक्तिके द्वारा परमात्माके परमधाममें जा पहुँचते हैं। परन्तु धूममार्गसे जानेवाले सकामी वापस आते हैं (गीता अध्याय ८ श्लोक २४ से २६ देखना चाहिये)। 'छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद्में भी इसका विस्तारसे वर्णन है। विशेषरूपसे यह विषय समझना हो तो 'जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर' शीर्षक लेख इसी पुस्तकमें आगे देखना चाहिये।

प्र०—मान लीजिये, किसी बीमार आदमीका रोग दो कबूतरोंका खून व्यवहार करनेसे दूर होता हो, इसमें कबूतर मारकर खून लगाना बतलानेवाले, और मारकर खून लगानेवाले, इन दोनोंमेंसे किसको पुण्य हुआ और किसको पाप ?

उ०—बीमारी आदिके लिये किसी भी जीवकी हिंसा करनेवाले, बतलानेवाले और हिंसासे मिली हुई वस्तु काममें लानेवाले तीनों ही आसक्ति और स्वार्थ होनेके कारण पापके भागी होते हैं।

प्र०—एक अविवाहित मनुष्य परस्त्रीके पास जाता है, उसको परस्त्रीसे छुड़ाकर कोई उसका विवाह करा दे तो विवाह कराने और करनेवालेमेंसे कौन-सा पापका भागी हुआ और कौन-सा पुण्यका ?

उ०—विवाहके योग्य पुरुषका शास्त्रानुकूल विवाह हो और विवाहके पश्चात् स्त्री-पुरुष न्याययुक्त गृहस्थाश्रमका पालन करें तो विवाह करने-करानेवाले दोनों ही पुण्यके भागी होते हैं।

प्र०—गति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—गति अर्थात् मुक्ति दो प्रकारकी होती है। शरीर रहते भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्ति हो सकती है, जीता हुआ ही वह पुरुष मुक्त हो जाता है। इसीलिये उसको जीवन्मुक्त कहते हैं और उसके शरीरका कार्य भी प्रारब्धानुसार चलता रहता है। ऐसे जीवन्मुक्तकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवत्त

****

होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है। जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसा समझता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है, उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समानभाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय-अप्रियको बराबर समझता है, अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समानभाववाला है, मान-अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है (गीता १४।२२—२५)। यह गुणातीत ही जीवन्मुक्त है। दूसरी विदेहमुक्ति मरणके अनन्तर होती है। अत्यन्त ऊँची स्थितिमें मरनेवालेकी यही गति होती है। गीतामें कहा है—

'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।'

(२।७२)

'अन्तकालमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।'

प्र०—दान देनेवाले और दान लेनेवाले इन दोनोंमें किसको पुण्य होता है और किसको पाप होता है?

उ०—आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर सत्पात्रमें जो दान दिया-लिया जाता है उसमें देने और लेनेवाले दोनोंको ही परम धर्म-लाभ होता है। स्वार्थबुद्धिसे लेनेवाले सुपात्रका पुण्य क्षय होता है और कुपात्रको नरककी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वार्थबुद्धिसे सुपात्रके प्रति दान देनेवालेको पुण्य और कुपात्रके प्रति देनेवालेको पाप होता है।

*****

शंका-समाधान

* * * * *

प्र०—उद्देश्यहीनता एवं निष्काम कर्ममें क्या अन्तर है ?

उ०—उद्देश्यहीन कर्म एवं निष्काम कर्म दो पृथक् वस्तु हैं। उद्देश्यहीन कर्म व्यर्थ होनेके कारण प्रमादस्वरूप, तमोगुणके कार्य एवं आत्माको हानि पहुँचानेवाले हैं। शास्त्रोंमें इनका निषेध किया गया है। पर निष्काम कर्म अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले, परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक एवं कर्म-बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। निष्काम कर्म उद्देश्यहीन नहीं, पर फलेच्छारहित अवश्य होते हैं। जिस प्रकार एक नौकर स्वामीकी आज्ञा-पालनको कर्तव्य जानकर, स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये कर्म करता है, उसका उद्देश्य केवल मालिकको प्रसन्न करना और उसकी आज्ञा पालन करना है। इसके अतिरिक्त वह कर्मके किसी फलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फलका भागी तो मालिक ही होता है। इसी प्रकार परम पिता परमेश्वरकी आज्ञा पालन करते हुए, कर्मफलकी इच्छाको त्याग करके केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्तव्यपालनस्वरूप किये हुए कर्म निष्काम कर्म होते हैं, इनमें आसक्ति और ममताको स्थान नहीं रहता।

प्र०—गन्तव्य स्थानके निश्चय बिना राह चलना कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि कोई भी कार्य लक्ष्य स्थिर किये बिना नहीं होते।

उ०—उत्तम उद्देश्य यानी परमात्माकी प्रसन्नताका लक्ष्य रखकर कर्म करने चाहिये। उद्देश्य रखना पाप नहीं। इच्छा, कामना, आसक्ति और ममता ही पापका मूल है।

प्र०—यदि कोई ईश्वरसे किसी वस्तुकी याचना न करके केवल [illegible]

और ईश्वर-प्रेमकी ही याचना करता है तो क्या इसको कामना नहीं कहेंगे ? क्या यह माँग निष्काम कहलायेगी ? धन-धान्यके याचक कौड़ीके याचक हैं और भक्त अमूल्य रत्नके याचक हैं। भक्तोंके लिये भक्ति सुख है और धन चाहनेवालेके लिये धन सुख है। हुए तो दोनों याचक ही, फिर भक्तोंमें निष्कामता कहाँ रही ?

उ०—जो प्रेम केवल प्रेमके लिये ही होता है वही विशुद्ध प्रेम है, उसके समान संसारमें और कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रेमका लक्ष्य कर जो स्वार्थरहित हो परमेश्वरसे प्रेम करता है, मुक्ति तो बिना चाहे ही उसके चरणोंमें लोटती है। इस प्रेमकी कामना निर्मल पवित्र कामना है, इस उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म सकाम नहीं होते। क्योंकि ईश्वरमें प्रेम होना किसी भी कर्मका फल नहीं है, यह तो कर्मोंके फल-त्यागका फल है; निष्कामकर्मी कर्मोंके फलका त्याग करता है, पर वह त्यागके फलका त्याग नहीं करता। श्रीभरत और श्रीहनूमान् आदिने ईश्वरमें प्रेम होनेकी याचना की थी। अवश्य ही यह याचना थी, पर कर्मोंके फलकी याचना नहीं थी; इसीसे उनकी निष्कामतामें कोई दोष नहीं आया, वे सकाम नहीं समझे गये। क्योंकि सकाम कर्मोंका फल तो पुत्र-धनादि या स्वर्गादिकी प्राप्ति है जो संसारमें फँसानेवाले हैं; ईश्वर-प्रेम या ईश्वर-प्राप्ति संसारसे उद्धार करनेवाले हैं।

हाँ, त्यागके फलका त्याग और भी श्रेष्ठ है; पर वह साधककी समझमें आना कठिन है, उसे तो सिद्ध पुरुष ही समझ सकते हैं। ऐसा त्याग ईश्वर और ईश्वर-प्राप्त भक्त ही कर सकते हैं। तुलसीदासजीने कहा भी है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥

अतः प्रेमका भिखारी बननेमें कोई आपत्ति नहीं, प्रेमका भिखारी तो हम भगवान्‌को भी कह सकते हैं। कोई मनुष्य किसीसे किसी बातकी इच्छा न रखकर हेतुरहित प्रेम करे तो वह प्रशंसाका ही पात्र है, फिर उस परम प्यारे परमेश्वरसे प्रेम करना तो बहुत ही प्रशंसनीय है। इस प्रेमके त्यागकी बात

****

भगवान्‌ने कहीं नहीं कही, इसे तो धारण करने योग्य ही बतलाया गया है।

प्र०—गीतामें **'जहि शत्रुम्'** इत्यादि वचनोंमें भगवान् इच्छाको शत्रुवत् बतलाते हैं, पर **'धर्माविरुद्धो भूतेषु'** इत्यादिमें धर्मानुकूल इच्छाको विधेय भी कहते हैं एवं बिना इच्छाके कार्य हो नहीं सकते, क्योंकि विद्याध्ययनकी इच्छाके बिना पढ़ा नहीं जाता, भूखके बिना खाया नहीं जाता, तो फिर धार्मिक कार्योंकी भी इच्छा करनी चाहिये या नहीं? यदि करनी चाहिये तो **'यक्ष्ये दास्यामि'** इसको गीतामें अनुचित क्यों बतलाते हैं? क्या दान करना धर्म नहीं है? यदि सकाम कर्म मुक्तिदायक नहीं है तो 'धर्माविरुद्ध' यह क्यों कहा गया?

उ०—उद्देश्यपूर्तिके लिये की हुई इच्छा और फलप्राप्तिकी इच्छामें बहुत अन्तर है। उद्देश्यपूर्तिकी इच्छा फलेच्छा नहीं है। निष्काम कर्मोंमें फलकी इच्छाका त्याग है, कर्म करनेकी इच्छाका त्याग नहीं, अतः धार्मिक कर्म करनेकी इच्छा करनेमें कोई दोष नहीं, पर उन कर्मोंके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।६)

'हे पार्थ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्यागकर अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

स्वार्थरहित उत्तम कर्म करनेकी इच्छा निर्मल पवित्र इच्छा है, यह कर्मोंको सकाम नहीं बनाती। इसको सकाम मानकर कर्म न करना तो भ्रममें पड़ना है। फिर उत्तम कर्म होंगे ही कैसे? **'जहि शत्रुम्'** इस श्लोकमें भगवान्‌ने जिस इच्छाका निषेध किया है वह संशय और रागद्वेषमूलक इच्छा है, जिसका परिणाम पाप है। इस श्लोकके पूर्वका श्लोक, **'अथ केन'** (३।३६) जिसमें अर्जुनने शंका की है, देखनेसे ही इस बातका साफ पता चल जाता है। यह निन्दनीय इच्छा है, पर **'धर्माविरुद्धो'** इस श्लोकके अनुसार जो धर्मानुकूल कामना है, उसकी भगवान्‌ने प्रशंसा ही की है।

भगवान्‌में प्रेम करनेकी इच्छा या भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये कर्म करनेकी इच्छा विशुद्ध इच्छा है, एवं भगवत्-प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है। स्वार्थरहित धर्मपालनकी इच्छा विधेय है और उसके फलकी इच्छा त्याज्य है। अतः विवेकपूर्वक विचार करनेसे गीताका कथन कहीं असंगत प्रतीत नहीं होता। केवल श्लोकोंके अर्थभेदको न समझनेके कारण ही विरोध-सा प्रतीत होता है, समझ लेनेपर विरोध नहीं रहता।

'यक्ष्ये दास्यामि' इस श्लोकमें यज्ञ-दान आदिके करनेकी इच्छाको निन्दनीय नहीं बतलाया गया है। अभिमान और अहंकारपूर्वक दम्भसे यज्ञ-दानादि करनेके भाव प्रकाशित करनेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा की गयी है। यज्ञ, दान अवश्य करने चाहिये, पर उनका विधिपूर्वक करना कर्तव्य है; केवल दिखौवा दम्भपूर्वक किये हुए यज्ञ-दानादि कर्म धर्म नहीं हैं। अतः इस श्लोकमें आसुरी भाववाले मनुष्योंकी निन्दा की गयी है, यज्ञ-दानादिकी नहीं।

सकाम कर्म धर्मानुकूल होनेपर भी मुक्तिदायक नहीं यह ठीक है, परन्तु कामनारूप दोष निकाल देनेपर वे मुक्तिदायक हो जाते हैं। ऐसा ही करनेके लिये भगवान्‌ने कहा है। एवं धर्म-पालनकी इच्छा भगवान्‌का स्वरूप ही है, अतः **'धर्माविरुद्धो'** इस श्लोकमें कोई दोष नहीं आता।

प्र०—प्रायः देखा जाता है कि मन जिस ओर जाता है इन्द्रियाँ भी उसी ओर जाती हैं, मनके बिना कर्मेन्द्रियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, यदि किया भी जाता है तो ठीक नहीं होता। यदि मन ही ईश्वरमें लगा रहा तो इन्द्रियाँ सांसारिक काम कैसे कर सकेंगी? फिर ***'तनसे काम, मनसे राम'*** **'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः'** के साथ **'युध्यस्व'** कैसे होगा?

उ०—यद्यपि आरम्भमें ***'तनसे काम, मनसे राम'*** होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि इन्द्रियाँ जिस ओर जाती हैं, मन भी दौड़कर उसी तरफ चला जाता है, पर विशेष अभ्यास करनेसे इस स्वभावका

****

परिवर्तन हो सकता है—यह आदत बदली जा सकती है। जिस प्रकार नटी अपने पैरोंके तलुओंमें सींग बाँधकर बाँसपर चढ़ जाती है और गाती-बजाती हुई रस्सीको हिलाते हुए उसी रस्सीपरसे दूसरे बाँसपर चली जाती है, उसके प्रायः सब इन्द्रियोंसे ही अलग-अलग काम होते हुए भी मन पैरोंमें रहता है, यह उसके साधनाका फल है। इसी प्रकार अभ्यास करनेसे मनुष्यका मन भी परमेश्वरमें रह सकता है एवं इन्द्रियोंके कार्योंमें बाधा उपस्थित नहीं होती। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८।७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि ऐसा सम्भव न होता तो भगवान् इसका निर्देश ही कैसे करते? भगवान् तो यहाँ मन-बुद्धितक अर्पण करके युद्ध करनेको कह रहे हैं। यदि युद्ध करते हुए भी भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाये जा सकते हैं तो दूसरे कामोंको करते हुए भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेमें कठिनता ही क्या है?

मनकी मुख्य वृत्तिको ईश्वरमें लगाकर गौणवृत्तिसे अन्य कार्योंका करना तो साधारण बात है, सहजसाध्य है। क्योंकि मनुष्योंमें प्रायः देखा जाता है कि वे मन दूसरी जगह रहते हुए पुस्तक पढ़ते रहते एवं सुनकर लिखते रहते हैं। अतः इन्द्रियोंका कार्य मन दूसरी जगह रहते हुए भी हो सकता है। ईश्वरका तत्त्व जान लेनेपर तो ईश्वरमें नित्य-निरन्तर चित्त रहते हुए सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य सुचारुरूपसे होनेमें कोई आपत्ति ही नहीं आती। जिस प्रकार सुवर्णके अनेक आभूषणोंको अनेक प्रकारसे देखते हुए भी सुनारकी सुवर्णबुद्धि नित्य बनी रहती है, वैसे ही परमेश्वरको जाननेवाले पुरुषकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि

निरन्तर बनी रहती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(६ । ३१)

'इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

प्र०—क्या प्रारब्धके प्रकोपसे कर्मस्वातन्त्र्यमें बाधा नहीं पड़ती ? जीवसे ***'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'*** इसके अनुसार जबरदस्ती काम करवाकर सजा क्यों दी जाती है ? इसमें उसका क्या दोष है ?

क्या गोस्वामीजीके—

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'

एवं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

क्या इन दोनोंमें आपसमें विरोध नहीं पड़ता ?

उ०—प्रारब्धके प्रकोपसे कर्मस्वातन्त्र्यमें विशेष बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें हेतुभूत स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति और नाशमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। नवीन पुण्य-पापके करनेमें प्रारब्धकी प्रधानता नहीं समझी जाती।

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' **'मतिरुत्पद्यते तादृग् यादृशी भवितव्यता' 'करतलगतमपि नश्यति यस्य भवितव्यता नास्ति'**—ये कथन प्रारब्धकृत सुख-दुःखादिके भोग करानेके विषयहीमें कहे गये हैं। नवीन कर्मोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नवीन कर्म करनेमें तो राग-द्वेषादि ही हेतु हैं और उनका चेष्टा करनेसे नाश हो सकता है। अतः नवीन कर्मोंमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है और इसीलिये यह उनके फलका भागी समझा जाता है। ईश्वर

****

या प्रारब्धकी इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है।

तुलसीदासजीके दोनों दोहे युक्तिसंगत एवं न्याययुक्त हैं। इन दोनोंका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। ***'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'*** यह प्रारब्धभोगके विषयमें एवं ***'सो परत्र दुख पावइ'*** कर्तव्यपालनके विषयमें है। जो मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं करता उसको अवश्य ही कष्ट उठाना पड़ता है। अतः इनमें कोई विरोध नहीं है।

प्र०—यदि ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् है तो फिर अन्धेको गिरनेसे क्यों नहीं बचाता, निर्बलकी रक्षा क्यों नहीं करता, मूर्खको विष खानेसे क्यों नहीं रोकता ? यदि वह न्यायपरायण और शरणागतवत्सल है तो निर्बल, अन्धे, मूर्ख जीवकी प्रबल शत्रुओंसे रक्षा क्यों नहीं करता ? क्या दयावान्‌के लिये बिना पूछे रास्ता बतलाना मना है ? क्यों वह जीवोंके दुःख-दृश्योंको देखता रहता है ?

उ०—ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, न्यायकर्ता और सर्वशक्तिमान् है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह अन्धेको बचानेके लिये, निर्बलकी रक्षाके लिये, मूर्खको विष खानेसे रोकनेके लिये महात्माओं एवं शास्त्रोंद्वारा बराबर चेष्टा करता है। हृदयमें स्थित रहकर बराबर सचेत करता रहता है। इसपर भी यदि मनुष्य शास्त्र और महात्माओंकी आज्ञाका उल्लंघन करके, हृदयस्थित ईश्वरकी दी हुई सत्-परामर्शको न मानकर जबरदस्ती विष भोजन करे, गड्‌ढेमें पड़े एवं निषिद्ध कर्मोंका आचरण करे तो उसको उन नियमोंके भंग करनेसे बलपूर्वक रोकनेका नियम ईश्वरके न्यायालयमें नहीं है।

जीव मोहवश अन्धा एवं निर्बल-सा हो रहा है। इसीलिये काम-क्रोधादि प्रबल शत्रु इसे सताते हैं, फिर भी यह अभागा उस ईश्वरकी दयाकी ओर खयाल नहीं करता। जो ईश्वर बार-बार इसको सचेत करता एवं इन शत्रुओंसे बचनेके लिये बराबर सत्परामर्श देता रहता है, उस सर्वज्ञसे इस जीवकी परिस्थिति छिपी नहीं है। वह सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकर्ता भी है। जीवोंको बचानेके लिये न्यायानुकूल सहायता भी देता है, पद-पदमें सावधान करता रहता है, पर अज्ञताके कारण जीव न समझे तो इसमें उस ईश्वरका क्या दोष ? यदि सूर्यके प्रकाशमें नेत्रोंके दोषके कारण उल्लूको

अन्धकार मालूम हो तो सूर्यका क्या दोष ?

परमेश्वर बिना पूछे मार्ग बतानेवाला एवं हेतुरहित प्रेम करनेवाला है। वह तो शास्त्र एवं महात्माओंद्वारा सत्परामर्श और सत्-शिक्षा देता है, जीवोंको दुःख देकर तमाशा देखना उस दयालुके प्रेमी स्वभावसे बाहरकी बात है। ये जीव अज्ञानवश अपने-आप भूलसे दुःख पाते हैं। वह दयालु परमेश्वर तो इन दुःखी जीवोंको पूर्णतया सहायता करनेके लिये सब प्रकारसे तैयार है। पर पापी जीव अश्रद्धा और अज्ञानके कारण उस परमेश्वरसे लाभ नहीं उठाते। जिस प्रकार दीपकके पास पतंगोंको देखकर दयालु पुरुष उन पतंगोंको बचानेकी अनेक चेष्टा करते हैं, पर इस रहस्यको वे पतंग नहीं समझ सकते, जबरन् जल ही मरते हैं। उसी प्रकार ईश्वरके बार-बार बचानेपर भी ये अभागे जीव संसारके इस अनित्य तुच्छ विषयजन्य सुखकी लोभनीय चमकमें चौंधियाकर उस अतुलनीय आनन्ददाताकी दयाको भूल जाते हैं एवं इसीमें फँस मरते हैं।

प्र०—भगवान् जिनके लिये '**योगक्षेमं वहाम्यहम्,** (९।२२) **ददामि बुद्धियोगं तम्,** (१०।१०) **नचिरात् मृत्युसंसारसागरात् उद्धर्ता,** (१२।७) **गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्,** (९।१८) **अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि**' (वा० रा० ६।१८।३३) आदि कहते हैं, उनके सदृश भगवान्का कृपापात्र मनुष्य कैसे बने ? क्या मनमें काम-क्रोधादि विकारोंको भरे रखनेवाले मनुष्य भी ईश्वरके कृपापात्र माने जायँ ? एवं ईश्वरके मित्र रहते हुए भी क्या राग-द्वेषादि चोर-डाकू जीवोंकी फजीहत करते हैं ?

उ०—ऐसा कृपापात्र बननेका उपाय भगवान्ने इन श्लोकोंके पहले श्लोकोंमें ही बतलाया है। जैसे—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले

****

भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

(गीता १२।६)

'जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।'

इन उपायोंका साधन करना चाहिये। इनका साधन करनेसे मनुष्य भगवान्‌की पूर्ण दयाका पात्र बन जाता है। उसको भगवान् अपना वास्तविक तत्त्व जना देते हैं। तुलसीदासजीका यह कहना बहुत ही ठीक है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।

जिसके मनमें काम-क्रोधादि विकार भरे हुए हैं वह भी ईश्वरकी दयाका समानभावसे अवश्य पात्र है, पर अज्ञानवश वह भगवद्दयाका लाभ नहीं उठा सकता। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषको गङ्गाके किनारे रहते हुए भी बिना ज्ञानके उससे लाभ नहीं होता, दरिद्र मनुष्यको घरमें पारस रहते हुए भी उसको पत्थर समझनेके कारण लाभ नहीं मिलता। इसी प्रकार ईश्वरका तत्त्व न जाननेके कारण अज्ञानी उससे लाभ नहीं उठा सकता, क्योंकि ईश्वरके विषयमें जो जितना जानता है वह उतना ही लाभ उठा सकता है।

यद्यपि ईश्वर सबका प्रेमी, सुहृद् और रक्षक है पर जो ईश्वरको प्रेमी और मित्र समझता है, परमेश्वर उसीकी सब प्रकार रक्षा करता है। जो उसको ऐसा नहीं समझता, उसकी रक्षाका भार ईश्वरपर न होनेके कारण उसे ये काम-क्रोधादि डाकू लूटते रहते हैं, क्योंकि जो ईश्वरको नहीं मानता या उससे सहायता नहीं चाहता, ईश्वर उसकी सहायता करनेके लिये बाध्य नहीं है। ईश्वर

****

न्यायप्रिय है एवं न्यायपरायणताको रखते हुए ही दयालु है।

प्र०—वह कौन-सा उपाय है जिससे ईश्वर प्राणसे भी बढ़कर प्यारा लगे ?

उ०—'ईश्वर क्या है ?' इस बातका रहस्य जान लेनेपर अर्थात् ईश्वरको यथार्थरूपसे जान लेनेपर ईश्वर प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा लग सकता है।

प्र०—तुलसीदासजीने कहा है कि 'ईश्वरका कृपापात्र उसीको समझना चाहिये जिसके मनोविकार दूर हो गये हों एवं जिसके प्रभु साक्षी, गति, सुहृद् हों।' मैं तो ईश्वरको अपना हितैषी तभी समझूँ जब वे मेरी राग-द्वेषादिसे रक्षा करें।

उ०—ईश्वर समानभावसे सबका प्रभु, सुहृद्, साक्षी होते हुए भी जो उसको वैसा समझ लेता है उसीके लिये ये गुण फलीभूत होते हैं। जिस क्षण आप ईश्वरको परम हितैषी, प्राणोंसे बढ़कर प्यारा समझ लेंगे, उसी क्षण आपके मनोविकार राग-द्वेषादि डाकू समूल नाश हो जायँगे। उसी समय आप ईश्वरकी विशेष दयाके पात्र समझे जायँगे। इसी भावको सामने रखकर तुलसीदासजीने कहा है—उसीको ईश्वरका कृपापात्र समझना चाहिये, जिसके मनोविकार दूर हो गये हों।

प्र०—विविध साधनमार्गोंमें अर्थात् ज्ञानयोग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रेमयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है, क्योंकि गीताके '**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**' (७। १९) इस कथनके अनुसार दूसरे साधन दीर्घकालके बाद परम पद देते हैं। जो सिद्धि प्रेमोपासक नामदेवजीको तीन-चार दिनमें ही प्राप्त हो गयी, वही ज्ञानियोंको बहुत जन्मोंके बाद मिलती है। क्या यह ठीक है ?

उ०—ज्ञान, योग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रधान प्रेमयोग है। यानी प्रेमसे—अनन्य भक्तिसे भगवान् बहुत शीघ्र प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं और वे तत्त्वसे जाने भी जाते हैं। गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

****

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्यभक्ति करके तो, इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इसमें कोई सन्देह नहीं, पर आपने जो अन्य साधनोंको बहुत कालके बाद मोक्षफल देनेवाले बतलाते हुए '**बहूनां जन्मनामन्ते**' इस गीताके श्लोकका उदाहरण दिया सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान और भक्तिके साधनके फलका भेद नहीं बतलाता, परन्तु भक्तिके फलका ही वर्णन करता है। चार प्रकारके भक्तोंमेंसे ज्ञानी भक्तको श्रेष्ठ और दुर्लभ बतलानेके लिये यह श्लोक कहा गया है। अतः इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि बहुत जन्मोंके बादके अन्तिम जन्ममें मनुष्य भगवान् वासुदेवको सर्वरूप समझकर प्राप्त करता है।

प्र०—आत्महत्या किसे कहते हैं? क्या ऋषि शरभंग, कुमारिल भट्ट आदिकी मृत्यु आत्महत्या नहीं कहलायेगी? क्या ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करना आत्महत्या नहीं कहलायेगी?

उ०—आत्महत्या दो प्रकारकी होती है—एक न्यायविरुद्ध काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर प्रयत्न करके हठपूर्वक देहसे प्राणोंका वियोग करना, एवं दूसरी मनुष्य-जन्म पाकर आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न न करनेके कारण पुनः संसारके जन्म-मरणरूप चक्करमें पड़ जाना।

ऋषि शरभंगका चितामें प्रवेश, कुमारिल भट्टका तुषमें जलना आत्महत्या नहीं कहलाती, क्योंकि इनका कार्य न्यायोचित था।

ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करनेवालेकी भी मृत्यु 'आ[illegible] नहीं कहलायेगी, पर शास्त्रोंमें ऐसे हठको ईश्वर-प्राप्तिका साधन नहीं [illegible]

*****

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

* * * * *

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है, क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है?' प्रश्नकर्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी महात्मागण ही दे सकते हैं, मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये आग्रह नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, सन्त-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तत्त्वतः कोई शङ्का नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिलकुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमन-

****

का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं। जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत्-चित्-आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं। अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे, योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है। गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपान-वायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके संस्कारोंसहित कर्मानुसार भिन्न-भिन्न साधनों और मार्गों द्वारा मरणकालकी कर्मजन्य वासनाके अनुसार परवशतासे भिन्न-भिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। संक्षेपमें यही सिद्धान्त है। परन्तु इतने शब्दोंसे ही यह बात ठीक समझमें नहीं आती, शास्त्रोंके विविध प्रसङ्गोंमें भिन्न-भिन्न वर्णन पढ़कर भ्रम-सा हो जाता है, इसलिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है—

तीन प्रकारकी गति

भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें मनुष्यकी तीन गतियाँ बतलायी हैं—अधः, मध्य और ऊर्ध्व। तमोगुणसे नीची, रजोगुणसे बीचकी और सत्त्वगुणसे ऊँची गति प्राप्त होती है। भगवान्‌ने कहा है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित

****

राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगति अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको एवं नरकको प्राप्त होते हैं।' यह स्मरण रखना चाहिये कि तीनों गुणोंमेंसे किसी एक या दोका सर्वथा नाश नहीं होता, सङ्ग और कर्मोंके अनुसार कोई-सा एक गुण बढ़कर शेष दोनों गुणोंको दबा लेता है। तमोगुणी पुरुषोंकी सङ्गति और तमोगुणी कार्योंसे तमोगुण बढ़कर रज और सत्त्वको दबाता है, रजोगुणी पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे रजोगुण बढ़कर तम और सत्त्वको दबा लेता है तथा इसी प्रकार सत्त्वगुणी पुरुषकी सङ्गति और कार्योंसे सत्त्वगुण बढ़कर रज और तमको दबा लेता है (गीता १४।१०)। जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उसीमें मनुष्यकी स्थिति समझी जाती है और जिस स्थितिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। यह नियम है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उसी प्रकारके भावको वह प्राप्त होता है (गीता ८।६)। सत्त्वगुणमें स्थिति होनेसे अन्तकालमें शुभ भावना या वासना होती है। शुभ वासनामें—सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेसे मनुष्य निर्मल ऊर्ध्वके लोकोंको जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वासनाके अनुसार ही अच्छे-बुरे लोकोंकी प्राप्ति होती है तो कोई मनुष्य अशुभ वासना ही क्यों करेगा? सभी कोई उत्तम लोकोंको पानेके लिये उत्तम वासना ही करेंगे? इसका उत्तर यह है कि अन्तकालकी वासना या कामना अपने-आप नहीं होती, वह प्रायः उसके तात्कालिक कर्मोंके अनुसार ही हुआ करती है। आयुके शेषकालमें यानी अन्तकालके समय मनुष्य जैसे कर्मोंमें लिप्त रहता है, करीब-करीब उन्हींके अनुसार उसकी मरण-कालकी वासना होती है। मृत्युका कोई पता नहीं, कब आ जाय, इससे मनुष्यको सदा-सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये। सर्वदा शुभ कर्मोंमें लगे रहनेसे ही वासना शुद्ध रहेगी, सर्वथा शुद्ध वासनाका

****

रहना ही सत्त्वगुणी स्थिति है; क्योंकि देहके सभी द्वारोंमें चेतनता और बोधशक्तिका उत्पन्न होना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिका लक्षण है (गीता १४। ११) और इस स्थितिमें होनेवाली मृत्यु ही ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि अन्तकालमें सात्त्विक वासना कर ली जायगी, अभीसे उसकी क्या आवश्यकता है? वे बड़ी भूल करते हैं। अन्तकालमें वही वासना होगी, जैसी पहलेसे होती रही होगी। जब साधक ध्यान करने बैठता है—कुछ समय स्वस्थ और एकान्त चित्तसे परमात्माका चिन्तन करना चाहता है, तब यह देखा जाता है कि पूर्वके अभ्यासके कारण उसे प्रायः उन्हीं कार्यों या भावोंकी स्फुरणा होती है, जिन कार्योंमें वह सदा लगा रहता है। वह साधक बार-बार मनको विषयोंसे हटानेका प्रयत्न करता है, उसे धिक्कारता है, बहुत पश्चात्ताप भी करता है तथापि पूर्वका अभ्यास उसकी वृत्तियोंको सदाके कार्योंकी ओर खींच ले जाता है। भगवान् भी कहते हैं—**'सदा तद्भावभावितः'** जब मनुष्य सावधान अवस्थामें भी मनकी भावनाको सहसा अपने इच्छानुसार नहीं बना सकता, तब जीवनभरके अभ्यासके विरुद्ध मृत्युकालमें हमारी वासना अनायास ही शुभ हो जायगी, यह समझना भ्रमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यदि ऐसा ही होता तो शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त करने और बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें लगानेकी आज्ञा भगवान् कैसे देते? (गीता ६। २५)। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके कर्मोंके अनुसार ही उसकी भावना होती है, जैसी अन्तकालकी भावना होती है—जिस गुणमें उसकी स्थिति होती है, उसीके अनुसार परवश होकर जीवको कर्मफल भोगनेके लिये दूसरी योनिमें जाना पड़ता है।

ऊर्ध्वगतिके दो भेद—इस ऊर्ध्वगतिके दो भेद हैं। एक ऊर्ध्वगतिसे वापस लौटकर नहीं आना पड़ता और दूसरीसे लौटकर आना पड़ता है। इसीको गीतामें शुक्ल-कृष्ण-गति और उपनिषदोंमें देवयान-पितृयान कहा है। सकामभावसे वेदोक्त कर्म करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे छूटे हुए पुण्यात्मा पुरुष धूम-मार्गसे पुण्यलोकोंको प्राप्त होकर वहाँ

दिव्य देवताओंके विशाल भोग भोगकर, पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं और निष्कामभावसे भगवद्भक्ति या ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भेदज्ञानयुक्त श्रौत-स्मार्त कर्म करनेवाले परोक्षभावसे परमेश्वरको जाननेवाले योगिजन क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

(गीता ८। २४—२६)

'दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता, दिनका अभिमानी देवता, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे, परमेश्वरको परोक्षभावसे जाननेवाले योगिजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए ब्रह्मको प्राप्त होते हैं तथा जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता, रात्रि-अभिमानी देवता, कृष्णपक्षका अभिमानी देवता और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर, स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस आता है। जगत्के यह शुक्ल और कृष्णनामक दो मार्ग सनातन माने गये हैं, इनमें एक—(शुक्ल-मार्ग-)के द्वारा गया हुआ वापस न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरे (कृष्ण-मार्ग-) द्वारा गया हुआ वापस आता है, अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

शुक्ल—अर्चि या देवयानमार्गसे गये हुए योगी नहीं लौटते और कृष्ण—

धूम या पितृयानमार्गसे गये हुए योगियोंको लौटना पड़ता है। श्रुति कहती है—

'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा ँ् सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।' (बृह० ६।२।१५)

'जिनको ज्ञान होता है, जो अरण्यमें श्रद्धायुक्त होकर सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरूप होते हैं, अर्चिसे दिनरूप होते हैं, दिनसे शुक्लपक्षरूप होते हैं, शुक्लपक्षसे उत्तरायणरूप होते हैं, उत्तरायणसे देवलोकरूप होते हैं, देवलोकसे आदित्यरूप होते हैं, आदित्यसे विद्युद्रूप होते हैं, यहाँसे अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, वहाँ अनन्त वर्षोंतक वह रहते हैं, उनको वापस लौटना नहीं पड़ता।' यह देवयानमार्ग है। एवं—

'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रि ँ् रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ता ँ् स्तत्र देवा यथा सोम ँ् राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेना ँ् स्तत्र भक्षयन्ति……'

(बृह० ६।२।१६)

'जो सकामभावसे यज्ञ, दान तथा तपद्वारा लोकोंपर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिरूप होते हैं, रात्रिसे कृष्णपक्षरूप होते हैं, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनको प्राप्त होते हैं, दक्षिणायनसे पितृलोकको और वहाँसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, चन्द्रलोक प्राप्त होनेपर वे अन्नरूप होते हैं··· और देवता उनको भक्षण करते हैं।' यहाँ 'अन्न' होने और 'भक्षण' करनेसे यह मतलब है कि वे देवताओंकी खाद्य वस्तुमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा खाये जाते हैं और फिर उनसे देवरूपमें उत्पन्न होते हैं। अथवा 'अन्न' शब्दसे उन जीवोंको देवताओंका आश्रयी समझना चाहिये। नौकरको भी अन्न कहते हैं,

सेवा करनेवाले पशुओंको अन्न कहते हैं, **'पशवः अन्नम्।'** आदि वाक्योंसे यह सिद्ध है। वे देवताओंके नौकर होनेसे अपने सुखोंसे वञ्चित नहीं हो सकते। यह पितृयानमार्ग है।

ये धूम, रात्रि और अर्चि, दिन आदि नामक भिन्न-भिन्न लोकोंके अभिमानी देवता हैं, जिनका रूप भी उन्हीं नामोंके अनुसार है। जीव इन देवताओंके समान रूपको प्राप्तकर क्रमशः आगे बढ़ता है। इनमेंसे अर्चिमार्गवाला प्रकाशमय लोकोंके मार्गसे प्रकाशपथके अभिमानी देवताओंद्वारा ले जाया जाकर क्रमशः विद्युत्-लोकतक पहुँचकर अमानव पुरुष-(भगवद्-पार्षद-) के द्वारा बड़े सम्मानके साथ भगवान्के सर्वोत्तम दिव्य परम धाममें पहुँच जाता है। इसीको ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोकका शेष भाग—सर्वोच्च गति, श्रीकृष्णके उपासक दिव्य गोलोक, श्रीरामके उपासक दिव्य साकेतलोक, शैव शिवलोक, जैन मोक्षशिला, मुसलमान सातवाँ आसमान और ईसाई स्वर्ग कहते हैं। इसीको उपनिषदोंमें विष्णुका परम धाम कहा है। इस दिव्यधाममें पहुँचनेवाला महापुरुष सारे लोकों और मार्गोंको लाँघता हुआ एक प्रकाशमय दिव्य स्थानमें स्थित होता है, जहाँ उसे सभी सिद्धियाँ और सभी प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह कल्पपर्यन्त अर्थात् ब्रह्माके आयुतक वहाँ दिव्यभावसे रहकर अन्तमें भगवान्में मिल जाता है। अथवा भगवदिच्छासे भगवान्के अवतारकी-ज्यों बन्धनमुक्त अवस्थामें ही लोक-हितार्थ संसारमें आ भी सकता है। ऐसे ही महात्माको कारक पुरुष कहते हैं।

धूममार्गके अभिमानी देवगण और इनके लोक भी प्रकाशमय हैं, परन्तु इनका प्रकाश अर्चिमार्गवालोंकी अपेक्षा दूसरा ही है तथा ये जीवको मायामय विषयभोग भोगनेवाले मार्गोंमें ले जाकर ऐसे लोकमें पहुँचाते हैं जहाँसे वापस लौटना पड़ता है, इसीसे यह अन्धकारके अभिमानी बतलाये गये हैं। इस मार्गमें भी जीव देवताओंकी रूपताको प्राप्त करता हुआ चन्द्रमाकी रश्मियोंके रूपमें होकर उन देवताओंके द्वारा ले जाया हुआ अन्तमें चन्द्रलोकको प्राप्त होता है और वहाँके भोग भोगनेपर पुण्यक्षय होनेपर ही वापस लौट आता है।

****

वापस लौटनेका क्रम—स्वर्गादिसे वापस लौटनेका क्रम उपनिषदोंके अनुसार यह है—

'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति।'

(छान्दो० ५।१०।५-६)

कर्मभोगकी अवधितक देवभोगोंको भोगनेके बाद वहाँसे गिरते समय जीव पहले आकाशरूप होता है, आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे अभ्र और अभ्रसे मेघ होते हैं, मेघसे जलरूपमें बरसते हैं और भूमि, पर्वत, नदी आदिमें गिरकर, खेतोंमें वे व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल आदि खाद्य पदार्थोंमें सम्बन्धित होकर पुरुषोंके द्वारा खाये जाते हैं। इस प्रकार पुरुषके शरीरमें पहुँचकर रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि आदि होते हुए अन्तमें वीर्यमें सम्मिलित होकर शुक्र-सिञ्चनके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं, वहाँ गर्भकालकी अवधितक माताके खाये हुए अन्न-जलसे पालित होते हुए समय पूरा होनेपर अपानवायुकी प्रेरणासे मल-मूत्रकी तरह वेग पाकर स्थूलरूपमें बाहर निकल आते हैं। कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि गर्भमें शरीर पूरा निर्माण हो जानेपर उसमें जीव आता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम होती। बिना चैतन्यके गर्भमें बालकका बढ़ना सम्भव नहीं और यह कहना युक्ति तथा नियमके विरुद्ध है। यहाँ लौटकर आनेवाले जीव कर्मानुसार मनुष्य या पशु आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

(छान्दो० ५।१०।७)

'इनमें जिनका आचरण अच्छा होता है यानी जिनका पुण्य सञ्चय होता है वे शीघ्र ही किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यकी रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं। ऐसे ही जिनके आचरण बुरे होते हैं अर्थात् जिनके पापका सञ्चय होता है वे किसी श्वान, सूकर या चाण्डालकी अधम योनिको प्राप्त होते हैं।'

यह ऊर्ध्वगतिके भेद और एकसे वापस न आने और दूसरीसे लौटकर आनेका क्रम बतलाया गया।

मध्यगति—मध्यगति या मनुष्य लोकको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेपर उनका प्राण-वायु सूक्ष्म-शरीरसहित समष्टि-लौकिक वायुमें मिल जाता है। व्यष्टि-प्राण-वायुको समष्टि-प्राण-वायु अपनेमें मिलाकर इस लोकमें जिस योनिमें जीवको जाना चाहिये, उसीके खाद्य पदार्थमें उसे पहुँचा देता है। यह वायुदेवता ही इसके योनि-परिवर्तनका प्रधान साधक होता है, जो सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी आज्ञा और उसके निर्भ्रान्त विधानके अनुसार जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके खाद्य पदार्थोंद्वारा उनके पक्वाशयमें पहुँचाकर उपर्युक्त प्रकारसे वीर्यरूपमें परिणत कर-कर मनुष्यरूपमें उत्पन्न कराता है।

अधोगति—अधोगतिको प्राप्त होनेवाले वे जीव हैं, जो अनेक प्रकारके पापोंद्वारा अपना समस्त जीवन कलंकित किये हुए होते हैं, उनके अन्तकालकी वासना कर्मानुसार तमोमयी ही होती है, इससे वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

जो लोग अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधादिके परायण रहते हैं, पर-निन्दा करते हैं, अपने तथा पराये सभीके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते हैं, ऐसे द्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधम मनुष्य सृष्टिके नियन्त्रणकर्ता भगवान्‌के विधानसे बारम्बार आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर वे उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं (गीता १६। १८—२०)।

इस नीच गतिमें प्रधान हेतु काम, क्रोध और लोभ हैं, इन्हीं तीनोंसे आसुरी सम्पत्तिका संग्रह होता है। भगवान्‌ने इसीलिये इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

****

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(गीता १६ । २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—यह तीन प्रकारके नरकके द्वार अर्थात् सब अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु हैं, यह आत्माका नाश करनेवाले यानी उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

नीच गतिके दो भेद—जो लोग आत्म-पतनके कारणभूत काम, क्रोध, लोभरूपी इस त्रिविध नरक-द्वारमें निवास करते हुए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी सम्पत्तिकी पूँजी एकत्र करते हैं, गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार उनकी गतिके प्रधानतः दो भेद हैं—

(१) बारम्बार तिर्यक् आदि आसुरी योनियोंमें जन्म लेना और

(२) उनसे भी अधम भूत, प्रेत, पिशाचादि गतियोंका या कुम्भीपाक, अवीचि, असिपत्र आदि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँकी रोमाञ्चकारी दारुण यन्त्रणाओंको भोगना।

इनमें जो तिर्यगादि योनियोंमें जाते हैं, वे जीव मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म शरीरसे समष्टि-वायुके साथ मिलकर जरायुज योनियोंके खाद्य पदार्थोंमें मिलकर वीर्यद्वारा शरीरमें प्रवेश करके गर्भकी अवधि बीतनेपर उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार अण्डज प्राणियोंकी भी उत्पत्ति होती है। उद्भिज, स्वेदज जीवोंकी उत्पत्तिमें भी वायुदेवता ही कारण होते हैं, जीवोंके प्राणवायुको समष्टि वायुदेवता अपने रूपमें भरकर जल-पसीने आदिद्वारा स्वेदज प्राणियोंको और पृथिवी-जल आदिके साथ उनको सम्बन्धितकर बीजमें प्रविष्ट करवाकर पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षादि जड योनियोंमें उत्पन्न कराते हैं।

यह वायुदेवता ही यमराजके दूतके स्वरूपमें उस पापीको दीखते हैं, जो नारकी या प्रेतादि योनियोंमें जानेवाला होता है। इसीकी चर्चा गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें जहाँ पापीकी गतिका वर्णन है, वहाँ की गयी है। यह समस्त

कार्य सबके स्वामी और नियन्ता ईश्वरकी शक्तिसे ऐसा नियमित होता है कि जिसमें कहीं किसी भूलको गुंजाइश नहीं होती। इसी परमात्मशक्तिकी ओरसे नियुक्त देवताओंद्वारा परवश होकर जीव अधम, मध्यम और उत्तम गतियोंमें जाता-आता है। यह नियन्त्रण न होता तो, न तो कोई जीव कम-से-कम व्यवस्थापकके अभावमें पापोंका फल भोगनेके लिये कहीं जाता और न भोग ही सकता। अवश्य ही सुख भोगनेके लिये जीव लोकान्तरमें जाना चाहता, पर वह भी ले जानेवालेके अभावमें मार्गसे अनभिज्ञ रहनेके कारण नहीं जा पाता।

जीव साथ क्या लाता, ले जाता है—अब प्रधानतः यही बतलाना रहा कि जीव अपने साथ किन-किन वस्तुओंको ले जाता है और किनको लाता है। जिस समय यह जीव जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसकी स्थिति स्थूल शरीरमें रहती है। तब इसका सम्बन्ध पाँच प्राणोंसहित चौबीस तत्त्वोंसे रहता है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्म भावरूप) पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, त्रिगुणमयी मूल प्रकृति, कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यह इन्द्रियोंके पाँच विषय (गीता १३।५)। यही चौबीस तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने प्राणोंको इसीलिये अलग नहीं बतलाया कि प्राणवायुका ही भेद है, जो पञ्चमहाभूतोंके अन्दर आ चुका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रधानतः तत्त्व चौबीस ही माने गये हैं। प्राणवायुके अलग माननेकी आवश्यकता भी नहीं है। भेद बतलानेके लिये ही प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नामक वायुके पाँच रूप माने गये हैं।

स्वप्नावस्थामें जीवकी स्थिति सूक्ष्म शरीरमें रहती है, सूक्ष्म शरीरमें सत्तरह तत्त्व माने गये हैं—पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके कारणरूप पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ तथा मन और बुद्धि। यह सत्तरह तत्त्व हैं। कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी जगह पाँच कर्मेन्द्रियाँ लेते हैं। पञ्चतन्मात्रा लेनेवाले

****

कर्मेन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मानते हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ माननेवाले पञ्च तन्मात्राओंको उनके कार्यरूप ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मान लेते हैं। किसी तरह भी मानें, अधिकांश मनस्वियोंने तत्त्व सत्तरह ही बतलाये हैं, कहीं इनका ही कुछ विस्तार और कहीं कुछ संकोच कर दिया गया है।

इस सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत तीन कोश माने गये हैं—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय। (सब पाँच कोश हैं, जिनमें स्थूल देह तो अन्नमय कोश है। यह पञ्चभौतिक शरीर पाँच भूतोंका भण्डार है, इसके अन्दरके सूक्ष्म शरीरमें) पहला प्राणमय कोश है, जिसमें पञ्च प्राण हैं। उसके अन्दर मनोमय कोश है, इसमें मन और इन्द्रियाँ हैं। उसके अन्दर विज्ञानमय (बुद्धिरूपी) कोश है, इसमें बुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, यही सत्तरह तत्त्व हैं। स्वप्नमें इस सूक्ष्म रूपका अभिमानी जीव ही पूर्वकालमें देखे-सुने पदार्थोंको अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे देखता है।

जब इसकी स्थिति कारण-शरीरमें होती है, तब अव्याकृत माया प्रकृति-रूपी एक तत्त्वसे इसका सम्बन्ध रहता है। इस समय सभी तत्त्व उस कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाते हैं। इसीसे उस जीवको किसी बातका ज्ञान नहीं रहता। इसी गाढ़ निद्रावस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। मायासहित ब्रह्ममें लय होनेके कारण उस समय जीवका सम्बन्ध सुखसे होता है। अतएव इसीको आनन्दमय कोश कहते हैं। इसीसे इस अवस्थासे जागनेपर यह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया,' उसे और किसी बातका ज्ञान नहीं रहता, यही अज्ञान है, इस अज्ञानका नाम ही माया—प्रकृति है। सुखसे सोया, इससे सिद्ध होता है कि उसे आनन्दका अनुभव था। सुखरूपमें नित्य स्थित होनेपर भी वह प्रकृति यानी अज्ञानमें रहनेके कारण वापस आता है। घटमें जल भरकर उसका मुख अच्छी तरह बन्द करके उसे अनन्त जलके समुद्रमें छोड़ दिया गया और फिर वापस निकाला तब वह घड़ेके अन्दरका जल ज्यों-का-त्यों रहा, घड़ा न होता तो वह जल समुद्रके अनन्त जलमें मिलकर एक हो जाता।

इसी प्रकार अज्ञानमें रहनेके कारण सुखरूप ब्रह्ममें स्थित होनेपर भी जीवको ज्यों-का-त्यों लौट आना पड़ता है। अस्तु !

चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमेंसे निकलकर जब यह जीव बाहर जाता है, तब स्थूल देह तो यहीं रह जाता है। प्राणमय कोशवाला सत्रह तत्त्वोंका सूक्ष्म शरीर इसमेंसे निकलकर अन्य शरीरमें जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

(गीता १५।७-८)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे गन्धके स्थानसे वायु गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे मनसहित इन इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

प्राणवायु ही उसका शरीर है, उसके साथ प्रधानतासे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठाँ मन (अन्तःकरण) जाता है, इसीका विस्तार सत्तरह तत्त्व हैं। यही सत्रह तत्त्वोंका शरीर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारके सहित जीवके साथ जाता है।

यहाँ यह एक शङ्का बाकी रह जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके २२वें श्लोकमें कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नवीन वस्त्रोंको ग्रहण करता है,

****

वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त करता है।' इसका यदि यह अर्थ समझा जाय कि इस शरीरसे वियोग होते ही जीव उसी क्षण दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है तो इससे दूसरा शरीर पहलेसे तैयार होना चाहिये और जब दूसरा तैयार ही है, तब कहीं आने-जाने, स्वर्ग-नरकादि भोगनेकी बात कैसे सिद्ध होगी तथा गीता स्वयं तीन गतियाँ निर्देशकर आना-जाना स्वीकार करती है, इसमें परस्पर विरोध आता है, इसका क्या समाधान है?

इसका समाधान यह है कि यह शङ्का ही ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान्‌ने इस मन्त्रमें यह नहीं कहा कि मरते ही जीवको दूसरी 'स्थूल' देह 'उसी समय तुरन्त ही' मिल जाती है। एक मनुष्य कई जगह घूमकर घर आता है और घर आकर वह अपनी यात्राका बयान करता हुआ कहता है—'मैं बम्बईसे कलकत्ते पहुँचा, वहाँसे कानपुर और कानपुरसे दिल्ली चला आया।' इस कथनसे क्या यह अर्थ निकलता है कि वह बम्बई छोड़ते ही कलकत्तेमें प्रवेश कर गया या कानपुरसे दिल्ली उसी दम आ गया? रास्तेका वर्णन स्पष्ट न होनेपर भी इसके अन्दर है ही, इसी प्रकार जीवका भी देह-परिवर्तनके लिये लोकान्तरोंमें जाना समझना चाहिये। रही नयी देह मिलनेकी बात, सो देह तो अवश्य मिलती है परन्तु वह स्थूल नहीं होती है। समष्टि-वायुके साथ सूक्ष्म शरीर मिलकर एक वायुमय देह बन जाती है, जो ऊर्ध्वगामियोंका प्रकाशमय तैजस, नरकगामियोंका तमोमय प्रेत-पिशाच आदिका होता है, यह सूक्ष्म होनेसे हमलोगोंकी स्थूल-दृष्टिसे दीखता नहीं। इसलिये यह शङ्का निरर्थक है। सूक्ष्म देहका आना-जाना कर्मबन्धन न छूटनेतक चला ही करता है।

प्रलयमें भी सूक्ष्म शरीर रहता है—प्रलयकालमें भी जीवोंके यह सत्तरह तत्त्वोंके शरीर ब्रह्माके समष्टि सूक्ष्म शरीरमें अपने-अपने सञ्चित कर्म-संस्कारोंसहित विश्राम करते हैं और सृष्टिके आदिमें उसीके द्वारा पुनः इनकी रचना हो जाती है (गीता ८। १८)। महाप्रलयमें ब्रह्मासहित समष्टि-व्यष्टि सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर ब्रह्माके शान्त होनेपर शान्त हो जाते हैं, उस समय एक मूल प्रकृति रहती है, जिसको अव्याकृत माया कहते हैं। उसी महाकारणमें

जीवोंके समस्त कारण-शरीर अभुक्त कर्म-संस्कारोंसहित अविकसितरूपसे विश्राम पाते हैं। सृष्टिके आदिमें सृष्टिके आदिपुरुषद्वारा ये सब पुनः रचे जाते हैं (गीता १४।३-४)। अर्थात् परमात्मारूप अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति ही चराचरसहित इस जगत्को रचती है, इसी तरह यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता रहता है (गीता ९।१०)। महाप्रलयमें पुरुष और उसकी शक्तिरूपा प्रकृति यह दो ही वस्तुएँ रह जाती हैं, उस समय अज्ञानसे आच्छादित जीवोंका ही प्रकृतिसहित पुरुषमें लय हुआ रहता है, इसीसे सृष्टिके आदिमें उनका पुनरुत्थान होता है।

आवागमनसे छूटनेका उपाय

जबतक परमात्माकी निष्काम भक्ति, कर्मयोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंद्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होकर उसकी अग्निसे अनन्त कर्मराशि सम्पूर्णतः भस्म नहीं हो जाती, तबतक फल भोगनेके लिये जीवको परवश होकर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार मूल-प्रकृति और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंको साथ लिये लगातार बारम्बार जाना-आना पड़ता है। जाने और आनेमें ये ही वस्तुएँ साथ जाती-आती हैं। जीवके पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही इसके गर्भमें आनेके हेतु हैं और अनेक जन्मार्जित सञ्चित कर्मोंके अंशविशेषसे निर्मित प्रारब्धका भोग करना ही इसके जन्मका कारण है। कर्म या तो भोगसे नाश होते हैं या प्रायश्चित्तसे या निष्काम कर्म-उपासनादि साधनोंसे नष्ट होते हैं।* इनका सर्वतोभावसे नाश तो परमात्माकी प्राप्तिसे ही होता है। जो निष्कामभावसे सदा-सर्वदा परमात्माका स्मरण करते हुए—मन-बुद्धि परमात्माको अर्पण करके समस्त कार्य परमात्माके लिये ही करते हैं, उनकी अन्त समयकी वासना परमात्मविषयक ही होती है और उसीके अनुसार उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

---

* 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय'में 'कर्मरहस्य' नामक लेख देखना चाहिये।

****

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'हे अर्जुन ! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस स्थितिमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके कारण अज्ञानसहित पुरुषके सभी कर्म नाश हो जाते हैं, इनसे उसका आवागमन सदाके लिये मिट जाता है, यही मुक्ति है, इसीका नाम परम पदकी प्राप्ति है, यही जीवका चरम लक्ष्य है। इस मुक्तिके दो भेद हैं—एक सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। इनमें क्रममुक्तिका वर्णन तो देवयानमार्गके प्रकरणमें ऊपर आ चुका है। सद्योमुक्ति भी दो प्रकारकी है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर जीवन्मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें जीता हुआ और कर्म करता हुआ-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें उसका कर्मसे सम्बन्ध नहीं होता। यदि कोई कहे कि सम्बन्ध बिना उससे कर्म कैसे होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह तो किसी कर्मका कर्ता है नहीं, पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका जो शेष भाग अवशिष्ट है, उसके भोगके लिये उसीके वेगसे, कुलालके न रहनेपर भी, कुलालचक्रकी भाँति कर्ताके अभावमें भी परमेश्वरकी सत्ता-स्फूर्तिसे पूर्व-स्वभावानुसार कर्म होते रहते हैं परन्तु वे कर्तृत्व-अभिमानसे शून्य कर्म किसी पुण्य-पापके उत्पादक न होनेके कारण वास्तवमें कर्म ही नहीं समझे जाते (गीता १८।१७)।

अन्तकालमें तत्त्वज्ञानके द्वारा तीनों शरीरोंका अत्यन्त अभाव होनेसे जब शुद्ध सच्चिदानन्दघनमें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है (गीता ५।१७) तब उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जिस मायासे कहीं भी नहीं आने-जानेवाले निर्मल निर्गुण सच्चिदानन्दरूप आत्मामें भ्रमवश आने-जानेकी भावना होती है, भगवान्‌की भक्तिके द्वारा उस मायासे छूटकर इस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही हम सबको प्रयत्न करना चाहिये !

* * * * *

जीवात्मा

* * * *

एक सज्जनने पूछा है—जीव क्या है, जीवका आना-जाना कैसे होता है और यदि जीव और आत्मा एक है तथा आत्मा असंग और अचल है तो फिर उसका आना-जाना कैसे सम्भव है ?

अपनी सामान्य बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा की जाती है।

जो समष्टि-चेतन परब्रह्म परमात्माका शुद्ध अंश है, उसे आत्मा कहते हैं। माया और मायाके कार्योंके साथ सम्बन्धित हो जानेपर इसी आत्माकी जीव-संज्ञा समझी जाती है। प्रकृति और प्रकृतिके सत्तरह कार्योंके साथ रहनेसे ही आत्मा जीव कहलाता है, सत्तरह कार्योंमें पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और दो मन-बुद्धि समझने चाहिये। परमात्माका जो सर्वथा विशुद्ध अंश है उसमें तो आने-जानेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, वह तो आकाशकी भाँति निर्लेप और समभावसे सर्वदा सर्वत्र स्थित है। शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। स्थूल शरीरके संसारमें उत्पन्न और नाश होनेको आत्मापर आरोपित करके लोग आत्माके आने-जानेकी कल्पना करते हैं, यह जैसे आत्मामें औपचारिक है वैसे ही स्थूल शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्मका आवागमन भी—जिसको लोग मृत्यु कहते हैं—वास्तवमें औपचारिक ही है। आत्मा अचल होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म—किसी भी शरीरकी स्थितिमें उसका गमनागमन उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार किसी घटके लाने, ले जानेसे घटाकाशका नहीं हुआ करता। यद्यपि आकाशका दृष्टान्त आत्माके लिये सब देशोंमें सर्वथा नहीं घटता, परन्तु दूसरे किसी दृष्टान्तके अभावमें समझानेके लिये इसीका उल्लेख किया जाता है।

****

इस सिद्धान्तसे कोई यह कहे कि जब आत्माका गमनागमन वास्तवमें होता ही नहीं, उपचारसे प्रतीत होता है, तो फिर आवागमनसे छूटनेके लिये क्यों चेष्टा की जाती है और क्यों शास्त्रकार तथा सन्त-महात्मा ऐसा उपदेश करते हैं एवं इसके औपचारिक गमनागमनमें सुख-दुःख भी किसको होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मामें वास्तवमें गमनागमनकी क्रिया न होनेपर भी सुख-दुःख जीवात्माको ही होते हैं और इसीलिये उनसे मुक्त होनेको कहा जाता है, गमनागमनके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे न जाननेके कारण शरीरके साथ सम्बन्धवाला जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता माना गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

प्रकृति-(भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया-) में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि न तो सुख-दुःख प्रकृति और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर शुद्ध आत्माको हो सकते हैं और न जड होनेके कारण अन्तःकरणको ही। यह उसी अवस्थामें होते हैं जब यह पुरुष—जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित होता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि सुख-दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं, ये उसमें रहते आये हैं और रहेंगे ही, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं और साधनसे न्यूनाधिक हो सकते हैं तथा इनका नाश भी हो सकता है। विकारोंको ही कोई धर्मके नामसे पुकारे तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिका भोक्ता अन्तःकरण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जड होनेके कारण कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकते। ये मायाके विकार हैं और अन्तःकरण इनके रहनेका आधारस्थल है। अतएव मायाके सम्बन्धवाला पुरुष ही भोक्ता है।

****

इस सुख-दुःखकी निवृत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक कि इस चेतन आत्माका शरीरोंके साथ अज्ञानजन्य सम्बन्ध छूट नहीं जाता। प्रकृतिसे सम्बन्ध छूटकर 'स्व-स्थ' अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित होनेपर ही आत्मा कृतकृत्य और मुक्त हो सकता है। महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें यही बात कही है।

अब यह विचार करना है कि प्रकृतिके साथ आत्माका संयोग होनेमें हेतु क्या है? वह हेतु अविद्या है—

'तस्य हेतुरविद्या' (२।२४)

इस अविद्याके नाशसे प्रकृतिसे छूटकर आत्माकी स्व-स्वरूपमें स्थिति होती है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्त होता है। अविद्याका नाश तत्त्वज्ञानसे होता है। ईश्वर, माया और मायाके कार्यका यथार्थ ज्ञान ही संक्षेपमें तत्त्वज्ञान है। भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३।१-२, ३४)

'हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं। हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा विकार-सहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

****

उपर्युक्त विवेचनसे यह समझा जा सकता है कि प्रकृति और उसके कार्योंमें सम्बन्धित आत्मा ही जीवात्मा है और इसी सम्बन्धके कारण उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। जीव किस प्रकारसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें कर्मोंके वश जाता-आता है, यह भिन्न विषय है और इसका विस्तृत वर्णन 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में 'कर्मका रहस्य' नामक लेखमें आ चुका है, इसलिये उसको यहाँ नहीं लिखा। ऊपर यह कहा जा चुका है कि तत्त्वज्ञानसे ही मायाका सम्बन्ध छूटता है और उस तत्त्वज्ञानका स्वरूप भी बतलाया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो ? श्रीमद्भगवद्गीतामें इसकी प्राप्तिके प्रधानतया तीन उपाय बतलाये गये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। ज्ञानयोगकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक, कर्मयोगकी व्याख्या अध्याय २ श्लोक ३९ से ५३ तक और भक्तियोगकी व्याख्या अध्याय १२ श्लोक २से २० तक की गयी है। इन व्याख्याओंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। समष्टि-चेतन परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना और उसके स्वरूपके तात्त्विक विवेककी आवश्यकता तो तीनोंमें ही है। अवश्य ही प्रकारमें भेद है। ज्ञानके सिद्धान्तसे अभेदोपासना एवं कर्म तथा भक्तियोगसे प्रधानतया भेदरूपसे उपासना की जाती है। इन दोनोंमें भक्तियोगमें भक्तिकी मुख्यता और कर्मकी गौणता है तथा कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता और भक्तिकी गौणता है।

जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ानेवाले तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन तीनों उपायोंमेंसे अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार किसी एक उपायको ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये परम कर्तव्य है।

*****

तत्त्व-विचार

* * * * *

प्रत्येक मनुष्यको इन प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये कि 'प्रकृति क्या है ? पुरुष किसे कहते हैं ? संसार क्या है ? हम कौन हैं ? राग-द्वेष, काम-क्रोधादि जीवके अन्तःकरणमें रहते ही हैं या इनका समूल नाश भी हो सकता है ? संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है ? परमात्मा, जीव, प्रकृति और संसार—ये अनादि हैं या आदिवाले हैं ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और बन्ध एवं मोक्ष क्या है ?' इन प्रश्नोंपर गहरा विचार करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बढ़नेसे आत्मामें इनका यथार्थ बोध हो जाता है—जीवन कृतकृत्य हो जाता है। थोड़े शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इन प्रश्नोंका विषय बहुत ही गहन है और सभी प्रश्न अति महत्त्वके हैं, इनपर विवेचन करना साधारण बात नहीं है; वास्तवमें इनका तत्त्व महात्मा पुरुष ही जानते हैं तथापि मैं अपने विनोदके लिये साधारण बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंपर अपने मनके विचार संक्षेपमें पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ और विनय करता हूँ कि आपलोग यदि उचित समझें तो इस विषयपर विचार करें।

प्रकृति, पुरुष और संसार

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३।१९)

'हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको तू अनादि जान।' इनमें पुरुष

****

तो अनादि और अनन्त है तथा प्रकृति अनादि, सान्त है। पुरुष सर्वव्यापी, नित्य, चेतन एवं आनन्दरूप है और प्रकृति विकारवाली होनेके कारण जड, अनित्य और दुःखरूप है। यह समस्त जडवर्ग संसार प्रकृतिका ही विकार है। प्रकृति जब अक्रियरूप हो जाती है, तब प्रकृतिका विकाररूप यह जडवर्ग संसार प्रकृतिमें लय हो जाता है, इसीको महाप्रलय कहते हैं और जब यह प्रकृति पुरुषके सकाशसे क्रियावाली होती है तब सर्गके आदिमें इससे इस जडवर्ग संसारका विस्तार होता है। इसीलिये कार्य और करण* के विस्तारमें प्रकृतिको ही हेतु बतलाया गया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। (गीता १३।२०)

सबसे पहले प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, इस महत्तत्त्वको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण जीवोंकी व्यष्टि-बुद्धियाँ इस समष्टि-बुद्धिका ही विस्तार है। तदनन्तर इस महत्तत्त्वसे समष्टि-अहङ्कार उत्पन्न होता है, समष्टि-अहङ्कारसे सङ्कल्पात्मक समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है और उसी अहङ्कारसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, इस प्रकार क्रमसे पाँच सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, यही इस जडवर्ग संसारके कारण हैं। कोई-कोई महर्षि इनको सूक्ष्म तन्मात्राएँ और इन्द्रियोंके कारणभूत अर्थ भी कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहङ्कारसे बतलाते हैं और भगवान् कपिल महत्तत्त्वसे। वास्तवमें इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-मन—ये तीनों अन्तःकरणके ही अवस्थाभेदसे तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं। तदनन्तर इन सूक्ष्म भूतोंसे या कारणरूप तन्मात्राओंसे पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय,

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम कार्य है। बुद्धि, अहङ्कार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम करण है।

पञ्च-कर्मेन्द्रिय और इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी उत्पत्ति अथवा विस्तार होता है। या यों कहिये कि यह जडवर्ग संसार उन पञ्च सूक्ष्म भूतोंका ही विस्तार या कार्य है।

पुरुषके भी दो भेद हैं—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा एक है परन्तु जीव असंख्य हैं। परमात्माके दो स्वरूप हैं— एक गुणातीत, जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, जो सदा ही माया और मायाके कार्य संसारसे अतीत है एवं जो अनादि और अनन्त है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१) **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृह० ३।९।२८) **'आनन्दो ब्रह्मेति'** (तै० ३।६) **'रसो वै सः'** (तै० २।७) **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छा० ६।२।१) **'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत्...... एषोऽस्य परम आनन्दः'** (बृह० ४।३।३२) आदि विशेषणोंसे श्रुतियाँ जिसका वर्णन करती हैं। दूसरा सगुण ब्रह्म जो मायाविशिष्ट ईश्वर, महेश्वर, सृष्टिकर्ता, परमेश्वर प्रभृति अनेक नामोंसे श्रुति-स्मृतियोंमें वर्णित है। वस्तुतः विज्ञानानन्दघन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न हैं, दो नहीं हैं। परमात्माके जिस अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमय संसार है, श्रुति-स्मृतियोंने, उसको सगुण ब्रह्म और जहाँ त्रिगुणमयी प्रकृति और संसारका अत्यन्त अभाव है उसको गुणातीत विज्ञानानन्दघन नामसे वर्णन किया है। वास्तवमें 'परमात्मा' शब्दसे सगुण-निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिये। यों तो सगुण ब्रह्मके सम्बन्धमें भी दो भेदोंकी कल्पना की गयी है। एक निराकार सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म—ब्रह्मका अवतार, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभृति। यहाँ सर्वव्यापी निराकार सगुण ब्रह्ममें और अपनी लीलासे साकाररूपमें प्रकट होनेवाले श्रीराम-कृष्ण आदि अवताररूपी भगवान्‌में कोई अन्तर या भिन्नता नहीं है। कुछ लोग बिना समझे-बूझे कह दिया करते हैं कि सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकते। इन लोगोंके सम्बन्धमें यह कहनेका तो मुझे अधिकार नहीं कि 'ऐसा कहना उनकी भूल है' हाँ, इतना जरूर कहा जाता है कि इन्हें अपने इस सिद्धान्तपर फिरसे विचार जरूर करना चाहिये। जिस प्रकार व्यापक

निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थानविशेषमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, एक ही अग्निके दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्माको भी समझना चाहिये। साधनोंद्वारा सर्वव्यापी परमात्माका सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट हो जाना शास्त्रसम्मत और युक्तियुक्त ही है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' इसके अतिरिक्त केन उपनिषद्‌में इन्द्र, अग्नि आदि देवोंके सामने ब्रह्मका यक्षरूपमें प्रकट होना प्रसिद्ध है। किसी-किसीका कहना है कि जब भगवान् इस प्रकार एक जगह प्रकट हो जाते हैं तब अन्य सब स्थानोंमें तो उनका अभाव हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कथन भगवान्‌के तत्त्वको न जाननेके कारण ही होता है। हम देखते हैं कि यह बात तो अग्निमें भी चरितार्थ नहीं होती। जब पत्थर या दियासलाईकी रगड़से अग्नि प्रकट होती है—निराकारसे साकाररूपमें परिणत होती है तब क्या अन्य सब स्थानोंमें उसका अस्तित्व मिट जाता है? फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है? भगवान् तो ऐसे सर्वव्यापी हैं कि अग्नि आदि पञ्चभूतोंकी कारणरूपा प्रकृति भी उनके किसी अंशमें उनके सङ्कल्पके आधारपर स्थित है। ऐसे परमेश्वरके सम्बन्धमें इस प्रकारका कुतर्क करना अपनी बुद्धिका ही परिचय देना है।

अब जीवात्माकी बात रही। भलीभाँति विचारकर देखनेसे तो यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियोंमें जीवात्माको परमात्माका अंश बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । (गीता १५। ७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।' गोसाईंजी भी **'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'** कहकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं। अंश अंशीसे उसी प्रकार भिन्न नहीं होता जिस प्रकार तरंगें समुद्रसे भिन्न दीखती हुई भी वस्तुतः उससे भिन्न नहीं हैं।

जीवके भी दो भेद हैं—एक बद्ध, दूसरा मुक्त। बद्ध वह है जो शरीरकी उत्पत्ति और विनाशमें अज्ञानके कारण आत्माका जन्मना-मरना मानता है और मुक्त उसे कहते हैं जिसके अज्ञानका नाश हो गया हो और जो भावी आवागमनके चक्रसे सर्वथा छूट गया हो। वास्तवमें तो ऐसे पुरुषकी जीव-संज्ञा ही नहीं है। यह भेद तो केवल समझानेके लिये किया गया है। उसकी स्थिति तो अनिर्वचनीय ही होती है।

मुक्ति भी दो प्रकारकी है—एक निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे मिल जाना और दूसरी साकार सगुण ब्रह्मके परमधाममें (जिसको सत्यलोकादि नामोंसे शास्त्रोंने निर्देश किया है) जाकर सगुण पुरुषोत्तम भगवान्‌की सन्निधिमें निवास करना। इस दूसरी प्रकारकी मुक्तिके भी चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। कोई-कोई महानुभाव सार्ष्टि नामक एक प्रकारकी मुक्ति और बताकर इसके पाँच भेद करते हैं, परन्तु 'सार्ष्टि' मुक्ति 'सारूप्य'के अन्तर्गत आ जाती है।

जबतक जीवको अज्ञान रहता है, तभीतक उसकी 'बद्ध' संज्ञा है। जब उसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसकी 'मुक्त' संज्ञा हो जाती है। परमात्माके चेतन अंशकी यह जीव-संज्ञा अनादि और अन्तवाली है अर्थात् है तो अनादिकालसे परन्तु मिट सकती है। जब यह जीव स्थूल शरीरमें आता है और जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसका चौबीस *

---

* चौबीस तत्त्व ये हैं—पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा। (गीता १३।५)

तत्त्वोंवाले तीनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर और पाँचों* कोशोंसे सम्बन्ध रहता है। जब प्रलय या स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तब इसका प्रकृतिसहित सत्रह † तत्त्वोंके सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है। जब यह ब्रह्माजीके शान्त होनेपर महाप्रलयमें या सुषुप्ति-अवस्थामें रहता है, तब इसका केवल प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। इसीको कारण-शरीर कहते हैं जो मूल-प्रकृतिका एक अंश है। सर्गके अन्तमें गुण और कर्मोंके संस्कारोंका समुदाय कारणरूपा प्रकृतिमें लय हो जाता है और सर्गके आदिमें पुनः उसीसे प्रकट हो जाता है और उसी गुण-कर्म-समुदायके अनुसार ही परमेश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको संसारमें रचते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(गीता ९।७)

'हे अर्जुन! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ।'

जीवमें जो चेतनता है वह परमात्माका अंश होनेसे वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है, अतः उस चेतनत्वको अनादि और अनन्त ही मानना चाहिये। परन्तु जीवके साथ जो प्रकृतिका सम्बन्ध है वह अनादि और सान्त है, क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अनादि एवं सान्त है।

प्रकृतिके दो भेद हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्याके द्वारा

---

* पञ्चकोश ये हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूलमें तीनों शरीर और पाँचों कोश हैं। सूक्ष्ममें दो शरीर 'अन्नमय'को छोड़कर शेष चार कोश हैं एवं कारण-शरीरमें सिर्फ आनन्दमय कोश है।

† मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्रा—ये सत्रह तत्त्व हैं। अहङ्कार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पञ्चप्राण, सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

परमात्मा संसारकी रचना करते हैं और अविद्याके द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं। जब जीव अविद्याजनित रज और तमको लाँघकर केवल सत्त्वमें स्थित हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें विद्या अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। फिर उस ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर वह ज्ञान भी स्वयमेव शान्त हो जाता है। जैसे काठसे उत्पन्न अग्नि काठको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न ज्ञान, अज्ञानको मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है। उस समय यह जीव विद्या और अविद्या उभयरूपा प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अभिन्नरूपसे प्राप्त हो जाता है। इसीको अभेदमुक्ति कहते हैं। फिर उसकी दृष्टिमें न ज्ञान है और न अज्ञान ही है। वह सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है। उसके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह वाणीसे अतीत है। वर्णनकी बात तो अलग रही, उसकी स्थितिको मन, बुद्धिसे समझ लेना भी अत्यन्त दुर्गम है, क्योंकि वह मन-बुद्धिसे परे है, उसके सम्बन्धमें जो कुछ भी वर्णन, मनन या निश्चय किया जाता है, वस्तुतः वह इन सबसे अत्यन्त विलक्षण है। उसकी इस विलक्षणताको समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिसे बाहरकी बात है। जिसको वह स्थिति प्राप्त है, वही इस बातको समझता है। वस्तुतः यह कहना भी केवल समझानेके लिये ही है।

एक ही निराकार आकाश जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे उनमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होता है और जिस प्रकार एक ही जल विशेष सर्दीके कारण ओलोंके रूपमें परिणत होकर अनेक रूपमें भासता है, इसी प्रकार एक ही चेतन प्रकृतिके सम्बन्धसे अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। यद्यपि घटाकाश और महाकाशमें कोई भिन्नता नहीं तथापि उपाधिभेदसे वह आकाश विभिन्न नाना रूपोंमें दिखलायी पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार घटाकाश महाकाशका अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव परमात्माका अंश नहीं है, क्योंकि आकाश निराकार, निरवयव तो है परन्तु जड होनेके कारण उसमें जैसे देशके विभागकी कल्पना की जा सकती है, विज्ञानानन्दघन परमात्मा देश और कालसे सर्वथा अतीत होनेके कारण उसमें

आकाशकी भाँति अंशांशी-भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तवमें परमात्माके अंशांशी-भावकी कल्पनाको बतलानेवाला संसारमें कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। दूसरा स्वप्नका उदाहरण भी दिया जाता है कि 'जैसे एक ही जीव स्वप्नावस्थामें मनोकल्पित सृष्टिको रचकर आप ही अपने अनेक रूपोंकी कल्पनाकर सुख-दुःखको प्राप्त होता है, परन्तु स्वप्नकी सृष्टिमें प्रतीत होनेवाले वे अनेक पदार्थ उसीकी अपनी कल्पना होनेके कारण उससे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार संसारके सारे जीव भी ईश्वरके ही अंश हैं।' पर यह उदाहरण भी समीचीन नहीं, क्योंकि जीव अज्ञानके कारण निद्राके वशीभूत हो स्वप्नमें कल्पित सृष्टिका अनुभव करता है, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह बात नहीं। परमात्माके यथार्थ अंशांशी-भावकी स्थिति तो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे ही समझमें आ सकती है। उदाहरणों और शास्त्रोंसे जो बातें जानी जाती हैं, वे तो केवल शाखाचन्द्र-न्यायसे तत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये हैं। वास्तविक स्वरूप तो अत्यन्त ही विलक्षण है।

प्रकृति, प्रकृतिके विकार संसार और पुरुष अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्माका वर्णन संक्षेपमें किया जा चुका। अब अगले प्रश्नोंपर विचार करना है।

हम कौन हैं ?

जीवात्मा ही इस मनुष्य-शरीरमें 'अहं' अर्थात् 'हम' शब्दका वाच्य है। वह वस्तुतः नित्य, चेतन और आनन्दरूप है तथा इस चौवीस तत्त्वोंवाले जड-दृश्य शरीरसे अत्यन्त विलक्षण है। शरीर अनित्य, क्षणभङ्गुर और नाशवान् है, अज्ञानसे इसकी स्थिति और ज्ञानसे ही इसका अन्त है। इसीलिये श्रीभगवान्ने सब शरीरोंको अन्तवाले बतलाया है।

'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २। १८)

परन्तु मायाके कार्यरूप शरीरके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अविनाशी, अप्रमेय, नित्य-चेतन जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता और नाना प्रकारकी योनियोंमें गमनागमन करनेवाला कहा गया है। यथा—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३।२१)

अर्थात् 'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

जबतक इसको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक अनन्तकोटि जन्मोंके बीत जानेपर भी आवागमनरूपी दुःखसे इसका छुटकारा नहीं होता। ज्ञानके द्वारा जिसके अज्ञानका सर्वथा नाश हो गया है, वह पुरुष इस देहके अन्दर जीता हुआ भी मुक्त है।

राग-द्वेषादिका नाश हो जाता है

मुक्त पुरुषके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। किसी-किसीका कथन है कि ज्ञानके अनन्तर भी ज्ञानीके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध और सुख-दुःखादि होते हैं एवं किसी-किसीने तो यहाँतक कह डाला है कि प्रारब्धके कारण ज्ञानीमें झूठ, कपट, चोरी और व्यभिचार आदि दुराचार भी रह सकते हैं। परन्तु मेरी साधारण समझके अनुसार इस प्रकार कहना मुनि प्रणीत आर्ष ग्रन्थों एवं युक्तियोंके सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति-स्मृति आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणसे विधि-वाक्योंद्वारा जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें अर्थात् ज्ञानोत्तर-कालमें दुराचारोंका होना किसी महाशयको ज्ञात हो तो वे कृपापूर्वक मुझे अवश्य सूचना दें। हाँ, उनके विरुद्ध तो श्रुति-स्मृतियोंमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

हर्षशोकौ जहाति। (कठ० २।१

तरति शोकमात्मवित्। (छा० ७।१।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (ईश०

'हर्ष-शोक त्याग देता है,' 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है', 'जब सर्वत्र आत्माकी एकताका निश्चय कर लेता है तब शोक-मोह कुछ भी नहीं रह जाते।'

गीतामें कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५।२६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

(गीता १२।१७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है।'

बल्कि काम-क्रोधादिको तो भगवान्ने साक्षात् नरकके द्वार और आत्माका नाशकतक बतलाये हैं और इनके अत्यन्त अभाव होनेपर ही आत्माके कल्याणके लिये साधन करनेसे मुक्ति बतलायी है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १६।२१-२२)

अर्थात् 'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, यानी अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। क्योंकि हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे (वह) जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।'

***

उपर्युक्त बाईसवें श्लोकमें 'विमुक्त' शब्द आया है जो काम, क्रोध, लोभके आत्यन्तिक अभावका द्योतक है यानी परमगति चाहनेवालेमें काम, क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। काम-क्रोधादिका कारण है आसक्ति। आसक्तिका नाम ही रस या राग है, इसीको सङ्ग भी कहते हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'सङ्ग' से ही 'काम' की उत्पत्ति होती है और क्रोध कामसे उत्पन्न होता है।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।

(गीता २।६२)

'काम-क्रोधादिके कारणरूप इस आसक्तिका परमात्माके साक्षात्कारसे सर्वथा नाश हो जाता है।'

—रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ (गीता २।५९)

अर्थात् 'इस पुरुषका राग भी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है।'

जब कारणका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके कार्य काम-क्रोधादिका अस्तित्व मानना भारी भोलेपनके अतिरिक्त और क्या है ? जिस कामरूपी कारणका कार्य क्रोध है, उस कामको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण और साधकके लिये महान् शत्रु बतलाया है और उसे मारनेकी स्पष्ट आज्ञा दी है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

अर्थात् 'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महाअशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३।४२-४३)

'इन्द्रियोंको परे अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं तथा इन्द्रियोंसे परे मन है एवं मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर तथा बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

अस्मिता, राग, द्वेष और भय—इन चारोंका कारण अविद्या है। अविद्या ही जीवके सुख-दुःखमें हेतु है और उस अविद्याका अभाव होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। अविद्यारूप कारणके अभावसे उसके चारों कार्योंका आप ही अभाव हो जाता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'तस्य हेतुरविद्या', 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।'

(२। २४-२५)

'उस संयोगका हेतु अविद्या है', 'उस अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव हो जाता है। उसका नाम हान है। वही द्रष्टाकी कैवल्य यानी मुक्त-अवस्था है।'

इस अवस्थामें सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, भय आदि विकार रह ही कैसे सकते हैं ?

कुछ लोग इन राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिको अन्तःकरणका धर्म मानते हैं और शरीर रहते इनका सर्वथा नाश होना असम्भव बतलाते हैं। परन्तु यह मानना युक्तियुक्त नहीं है; बल्कि श्रुति-स्मृति शास्त्र-प्रमाणोंसे तो शरीरके रहते हुए ही इनका अभाव होना सिद्ध है। उपर्युक्त विवेचनमें यह बात दिखलायी जा चुकी है। अब यह दिखलाना है कि ये अन्तःकरणके स्वाभाविक धर्म नहीं, किन्तु विकार हैं। क्षेत्रके वर्णन-प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३। ६)

****

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतनता और धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपमें कहा गया।'

इससे इनका विकार होना सिद्ध है और इन विकारोंसे आत्यन्तिक मुक्तिका नाम ही मोक्ष है। शास्त्र-प्रमाणोंके अतिरिक्त युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। भला यदि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि विकार ही न छूटे तो मुक्ति किस बन्धनसे हुई और ऐसी मुक्तिका मूल्य ही क्या है? यदि सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि स्वाभाविक धर्म होते तो वे धर्मीसे कदापि अलग नहीं हो सकते और धर्मीके नाश होनेपर ही उनका नाश होता, परन्तु ऐसा न होकर अन्तःकरणरूप धर्मीके रहते हुए ही इनका घटना-बढ़ना और नष्ट होना देखा जाता है। इससे ये धर्म नहीं, किन्तु विकार ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानीमें तो ये रहते ही नहीं, परन्तु अज्ञानीके अन्दर भी ये घटते-बढ़ते देखे जाते हैं और इनके घटने-बढ़नेसे अन्तःकरणका घटना-बढ़ना नहीं देखा जाता। वास्तवमें ये धर्म नहीं, किन्तु अविद्याजनित विकार हैं और विवेकसे इनका शमन होता है। जब विवेकसे ही ऐसा होता है तब पूर्ण ज्ञानसे तो इनका सर्वथा नाश हो जाना बिलकुल ही युक्तियुक्त है। कुछ लोग चोरी, झूठ, कपट और व्यभिचार आदि पापोंकी उत्पत्ति भी ज्ञानीके प्रारब्धसे मानते हैं और ऐसे प्रारब्धका आरोप करके ज्ञानीके मत्थे भी इन पापोंका होना मढ़ते हैं। मेरी साधारण बुद्धिसे इस प्रकार मानना ज्ञानीके मस्तकपर कलंक लगाना है। ज्ञानीकी तो बात ही क्या है किसी भी मनुष्यके लिये दुराचारोंकी उत्पत्तिमें प्रारब्धको हेतु माननेसे शास्त्र और युक्तियोंके साथ अत्यन्त विरोध उपस्थित हो जाता है। जैसे—

१—**'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।'**

(तैत्ति० १। ११। १)

—आदि श्रुतिके विधि-वाक्योंका और **'सुरां न पिबेत्'** आदि निषेध-वाक्योंका कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा और सारे विधि-निषेधात्मक शास्त्र

****

सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे।

२—झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि पाप यदि पूर्वकृत पापोंके फलरूप प्रारब्ध हैं तो फिर इनका कभी नाश होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि पापका फल पाप, फिर उस पापका फल पाप, इस प्रकार पापोंकी शृङ्खला कभी टूट ही नहीं सकती यानी अनवस्था-दोष आ जायगा।

३—पापोंका होना प्रारब्धसे मान लेनेपर उनके लिये किसीको कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि पाप करनेवाला तो बेचारा प्रारब्धवश बाध्य होकर पापोंको करता है फिर वह दण्डका पात्र क्यों समझा जाय। जिस ईश्वरने इस प्रकारके प्रारब्धकी रचना की, असलमें उसीपर यह दोष भी आना चाहिये।

४—काम-क्रोधादि पापोंके फलस्वरूप दण्डका विधान ही युक्तियुक्त है न कि पुनः पाप करनेका। दुनियामें हम देखते हैं कि चोरी, व्यभिचारादि करनेवाले अपराधियोंको जेल आदिकी सजा होती है, न कि फिर वैसे ही पाप करनेके लिये उन्हें उत्साह दिलाया जाता हो। जब जगत्के न्यायमें भी ऐसा नहीं होता तब परम दयालु, परम न्यायकारी ईश्वर पाप-कर्मोंका फल चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि कैसे रच सकते हैं?

५—प्रारब्ध उसी कर्मका नाम है जो पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगतानेवाला हो। नवीन क्रियमाण कर्मकी उत्पत्तिका नाम प्रारब्ध नहीं है। नवीन क्रियमाण कर्म तो प्रारब्धसे सर्वथा भिन्न है। जहाँ कर्मोंकी तीन संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं वहाँ पुण्य-पापादि नवीन कर्मोंको क्रियमाण, सुख-दुःखादि भोगोंको प्रारब्ध और पूर्वकृत अभुक्त कर्मोंको सञ्चित कहा है। जिन लोगोंको उपर्युक्त तीनों कर्मोंके तत्त्वका ज्ञान होगा, वे पाप-पुण्यादि क्रियमाण कर्मोंको प्रारब्ध कैसे बतला सकते हैं? अतएव यह सिद्ध हो गया कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानसे उत्पन्न विकार ज्ञान न होनेतक जीवके अन्तःकरणमें न्यूनाधिक रूपमें रहते हैं और ज्ञान होते ही इनका समूल नाश हो जाता है।

****

हमारा क्या कर्तव्य है ?

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य ही कर्म-योनि है। अर्थात् इस मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अन्यान्य सारी योनियोंमें भोगना पड़ता है। मनुष्य, पितृ और देव—ये तीन उत्तम योनियाँ मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी पाप-योनियाँ हैं। इन तीनोंमें भी मुक्तिके सम्बन्धमें तो मनुष्यकी ही प्रधानता है। यद्यपि मनुष्यकी अपेक्षा देव और पितृ अधिक पुण्य-योनि हैं और उनमें बुद्धि तथा सामर्थ्यकी भी विशेषता है, परन्तु भोगोंकी बाहुल्यताके कारण देव और पितृयोनिके जीव मुक्तिके मार्गपर आरूढ़ होनेमें प्रायः असमर्थ ही रहते हैं। जब इस लोकमें भी विशेष समृद्धिशाली मनुष्य भोग-विलासमें फँसे रहनेके कारण मुक्तिके मार्गपर नहीं आते, तब स्वर्गादि लोकोंमें अनेक सिद्धियोंको प्राप्त और भोग-सामग्रीमें अनुरक्त लोग मुक्ति-मार्गमें कैसे लग सकते हैं ? अतएव बड़े ही सुकृतोंके संग्रह होनेपर भगवत्कृपासे यह परम दुर्लभ और मुक्तिका साधन मनुष्य-शरीर मिलता है। भगवान् दया करके जीवको मुक्त होनेका यह एक सुअवसर देते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे अमूल्य शरीरको पाकर हमलोगोंको उस परम दयालु परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये परमात्माके भजनके निमित्त प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्ने श्रीगीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३)

'इस सुखरहित और क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर तू निरन्तर मेरा भजन ही कर।'

क्योंकि यह शरीर परम दुर्लभ और पुण्यसे मिलनेवाला होनेपर भी विनाशी और क्षण-क्षणमें क्षय होनेवाला है। यदि इस अवसरको हम हाथसे खो देंगे तो फिर हमारे पछतानेकी सीमा न रहेगी। यह शरीर न तो भोगोंके लिये है और न स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही। जो इस मनुष्य-शरीरको पाकर इसे केवल विषय-भोगोंमें लगा देते हैं उनकी महात्माओंने बड़ी निन्दा की है। गोस्वामीजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(११।२०।१७)

'अति दुर्लभ मनुष्य-देह भगवत्-कृपासे सुलभतासे प्राप्त है, यह संसार-समुद्रसे पार जानेके लिये सुन्दर दृढ़ नौका है, गुरुरूपी इसमें कर्णधार है, भगवान् इसके अनुकूल वायु है, इस प्रकार होनेपर भी जो भव-समुद्रसे नहीं तरता वह आत्महत्यारा है।'

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

यह शरीर तो आत्माके कल्याणके लिये है। शास्त्रोंमें आत्मकल्याणके

****

अनेक उपाय और युक्तियाँ बतलायी गयी हैं। गीताके चौथे अध्यायमें विविध यज्ञोंके नामसे, पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तनिरोधके नामसे, उपनिषदादिमें ज्ञानके नामसे और शाण्डिल्य, नारद और व्यास आदिने भक्तिके नामसे परमात्माका तत्त्व जाननेके लिये अनेक उपाय बतलाये हैं। परन्तु इन सबमें सर्वोत्तम उपाय परमात्माकी अनन्य भक्ति या अनन्य शरण ही समझनी चाहिये।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योग० १।२३)

'ईश्वर-शरणागतिसे चित्त ईश्वरमें निरुद्ध हो सकता है।'

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यसूत्र २)

'ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है।'

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (नारद० १९)

'समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌को ही स्मरण करते रहना और विस्मरण होते ही परम व्याकुल हो जाना।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०—२२)

'हे उद्धव! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप अथवा दान—कोई भी समर्थ नहीं है। साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ; मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसहित विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।'

****

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(११।५३)

'हे अर्जुन! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ कि जैसे मुझको तुमने देखा है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६५-६६)

(इसलिये) 'तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी, विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। इससे सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

अतएव मनुष्य-शरीर पाकर ऋषियोंके और साक्षात् भगवान्के वचनोंमें विश्वासकर हमें भगवान्के भजन, ध्यानमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये।

परमात्मा, जीवात्मा, संसार और प्रकृतिका विषय

परमात्मा, जीवात्मा तथा संसारसहित प्रकृति और इनका परस्पर सम्बन्ध अर्थात् जीव और परमात्माका सम्बन्ध, जीव और प्रकृतिका सम्बन्ध तथा प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध, परस्परका भेद और कर्म—ये छः अनादि हैं। इनमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने चेतन अंशसहित अनादि और अनन्त हैं। शेष सभी अनादि और सान्त हैं। जीव और परमात्माका अंशांशी- सम्बन्ध है। यह अंशांशी-सम्बन्ध अनेक भावोंसे माना जाता है। जैसे दास्यभाव, सख्यभाव और माधुर्यभाव आदि। इस सम्बन्धकी अवधि जीवकी इच्छापर अवलम्बित है। जीव और प्रकृतिमें भोक्ता और भोग्य सम्बन्ध है। जीव चेतन होनेके कारण भोक्ता है और प्रकृति जड होनेसे भोग्य।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

(गीता १३। २०)

'जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है।'

परन्तु कोई-कोई अन्तःक़रणको भोक्ता मानते हैं। पर उनका मानना युक्तियुक्त नहीं। कारण अन्तःकरण जड होनेसे उसमें भोक्तृत्व सम्भव नहीं। शुद्ध आत्मा भी भोक्ता नहीं है। जो केवल शुद्ध आत्माको भोक्ता मानता है उसे भगवान्ने मूढ़ कहा है। अतएव 'प्रकृतिस्थ पुरुष' ही भोक्ता है।

प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्के सदृश है। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति महासर्गके आदिमें प्रकृति और परमेश्वरके सम्बन्धसे ही होती है। शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ-वहाँ भगवान्की अध्यक्षतामें ही बतलायी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता ९। १०)

'मेरी अध्यक्षतामें ही प्रकृति (माया) चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है।'

जहाँ परमेश्वरके द्वारा संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ कहीं प्रकृतिको द्वार कहा है और कहीं योनि।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् (गीता १४।३)

'मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सब भूतोंकी योनि है और मैं उसमें चेतनरूप बीज स्थापन करता हूँ।'

योनि कारणका नाम है। वहाँ वह शरीरोंके जडसमुदायका कारण है। चेतन-अंशका कारण तो स्वयं परमात्मा है।

बन्धन और मुक्ति

प्रकृति या वैष्णवी मायाका विकार जो अज्ञान है, उस अज्ञानसहित प्रकृतिके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध है। इसीका नाम बन्धन है और इसी कारणसे ईश्वरका चेतनांश जीवात्मा अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि प्रकृतिके विकारोंसे बँधा हुआ प्राप्त होता है। ज्ञानके द्वारा प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही मुक्ति है और अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा काम-क्रोधादि विकारोंका अन्तःकरणसे सर्वथा नाश हो जाना ही अज्ञानके नाशका लक्षण है। क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंमें उपनिषद्, गीता प्रभृति आर्ष शास्त्रोंद्वारा इन विकारोंका सर्वथां अभाव ही प्रतिपादित है। अतएव अविद्याके अत्यन्त अभावका नाम ही मुक्ति है। अविद्याका अभाव होनेपर उसके कार्य इन विकारोंका नाश स्वाभाविक ही हो जाता है। क्योंकि कारणके साथ ही कार्यका अभाव सर्वथा सिद्ध है।

*****

अनन्य शरणागति

*****

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

(गीता १८।६२, ६६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही न्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्ति और सनातन मधामको प्राप्त होगा। (वह परमात्मा मैं ही हूँ, अतएव) सर्व धर्मोंको र्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर !'

भगवान्‌की उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार हम सबको उनके शरण हो जाना चाहिये। लज्जा-भय, मान-बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थ-भावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना तथा सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उनमें समचित्त रहना। संक्षेपमें इसीका नाम अनन्य-शरण है।

चित्तसे भगवान् सच्चिदानन्दघनके स्वरूपका चिन्तन, बुद्धिसे 'सब कु एक नारायण ही है' ऐसा निश्चय, प्राणोंसे (श्वासद्वारा) भगवन्नाम-जप, कानो भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका भक्तिपूर्वक श्रवण, नेत्र भगवान्‌की मूर्ति और भगवद्भक्तोंके दर्शन, वाणीसे भगवान्‌के गुण, प्र और पवित्र नामका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी नि सेवा—ये सभी कर्म शरणागतिके अन्दर आ जाते हैं। इस प्रकार भगव परायण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है।

संसारमें जिन वस्तुओंको मनुष्य 'मेरी' कहता है, वे सब भगवा

मनुष्य मूर्खतासे उनपर अधिकार आरोपणकर सुखी-दुःखी होता है। भगवान्‌की सब वस्तुएँ भगवान्‌के ही काममें लगनी चाहिये। भगवान्‌के कार्यके लिये यदि संसारकी सारी वस्तुएँ मिट्टीमें मिल जायँ तो भी बड़े आनन्दकी बात है और उनके कार्यके लिये बनी रहें तो भी बड़े हर्षका विषय है। उन वस्तुओंको न तो अपनी सम्पत्ति समझनी चाहिये और न उन्हें अपने भोगकी सामग्री ही माननी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें तो सब कुछ नारायणका ही है, इसलिये नारायणकी सर्व वस्तु नारायणके अर्पण की जाती है। यों समझकर संसारमें जो कार्य किये जाते हैं, वही भगवत्-प्रेमरूप शरणकी प्राप्तिका साधन है।

उपर्युक्त प्रकारसे जो कुछ भी कर्म किया जाय, सब भगवान्‌के लिये करना चाहिये। इसीका नाम अर्पण है। जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्‌की इच्छासे हो रहा है, लीलामयकी इच्छासे लीला हो रही है। इसमें व्यर्थके बुद्धिवादका बखेड़ा नहीं खड़ा करना चाहिये। अपनी सारी इच्छाएँ भगवान्‌की इच्छामें मिलाकर अपना जीवन सर्वतोभावसे भगवान्‌को सौंप देना चाहिये। जब इस प्रकार जीवन समर्पण होकर प्रत्येक कर्म केवल भगवदर्थ ही होने लगेगा, तभी हमें भगवत्प्रेमकी कुछ प्राप्ति हुई है—हम भगवान्‌के शरण होने चले हैं, ऐसा समझा जायगा।

सच्चिदानन्दघन परमात्माकी पूर्ण शरण हो जानेपर एक सच्चिदानन्दघनके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। वह अपार, अचिन्त्य, पूर्ण, सर्वव्यापक एक परमात्मा ही अचल अनन्त आनन्दरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उस आनन्दको कभी नहीं भुलाना चाहिये। आनन्दघनके साथ मिलकर आनन्दघन ही बन जाना चाहिये। जो कुछ भासता है, जिसमें भासता है और जिसको भासता है, वह सब एक आनन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण है। इस पूर्ण आनन्दघनका ज्ञान भी उस आनन्दघनको ही है। वास्तवमें यही अनन्य शरणागति है!

*****

गीतोक्त सांख्ययोग

* * * * *

काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान् लिखते हैं कि—

'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखमें तीन पक्षोंपर विचार करते हुए तृतीय पक्ष समीचीन सिद्ध किया गया है। उसमें 'सांख्ययोग और कर्मयोग ये दो भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ हैं, और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र मुक्तिके साधन हैं' यही गीताका प्रतिपाद्य विषय निर्धारित किया गया है। इसपर मुझे शङ्का है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इत्यादि वाक्योंसे पता लगता है कि गीतामें प्रतिपाद्य विषय ही उपनिषदोंका रहस्य है। किसी अंशमें भी उपनिषदोंसे गीताका पार्थक्य नहीं हो सकता। उपनिषद् भगवान्के निश्वास हैं। **'यस्य निश्वसितं वेदाः'** (मनु०) और गीता भगवन्मुखसे निःसृत वाणी है। उसमें किसी प्रकार भेद सम्भव नहीं हो सकता। उपनिषदोंमें **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' 'ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'तरति हि शोकमात्मवित्' 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** इत्यादि। जैसे ये वाक्य ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिका प्रतिपादन करते हैं, यदि कर्मसे भी मुक्ति होती तो कर्मसे मोक्षप्रतिपादक वाक्य भी इसी प्रकार मिलते, पर ऐसे वाक्य नहीं मिलते, प्रत्युत कर्मसे मोक्ष नहीं होता, इस बातके परिपोषक वाक्य अनेक मिलते हैं।

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः'

'नास्त्यकृतः कृतेन' (कृतेन अकृतो मोक्षो नास्ति)।

श्रुति कितने बलसे प्रतिपादन करती है कि कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता। कर्मकी आवश्यकता तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रारम्भमें होती है।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः'

इसी बातका प्रतिपादन भगवान्‌ने भी गीतामें स्वयं श्रीमुखसे किया है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥'

(५।११)

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

(६।३)

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥'

(१८।५)

श्रीमद्भागवतमें उद्धवके प्रति भगवान्‌ने यही बात कही है—

'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥'

(११।२०।९)

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।' (गीता ५।६)

इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म ज्ञानका कारण है न कि मोक्षका। अब जो तृतीय पक्षके समर्थनमें आपने हेतु दिये हैं, उनमें—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।' (गीता ५।४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।' (गीता ५।५)

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।' (गीता ३।३)

—इत्यादि वचनोंपर विचार करना है। 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इस

****

वचनका यह अर्थ है कि सांख्य (ज्ञानी) ज्ञानसे जिस मोक्षपदको प्राप्त होते हैं, कर्मयोगी ज्ञानद्वारा उसी पदको प्राप्त होते हैं। कर्मसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह अर्थ इस वाक्यका नहीं करना चाहिये। अन्यथा उक्त वचनोंसे विरोध हो जायगा। **'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा····'** इससे भगवान्ने दो निष्ठाएँ दिखायी हैं। ये दोनों स्वतन्त्र मोक्षके कारण हैं, यह अर्थ उक्त श्लोकसे नहीं निकलता। **'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** ये वचन उन लोगोंके लिये हैं जिनका चित्त शुद्ध नहीं है और जो ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। तभी सब वाक्योंका समन्वय होगा। इसीसे भगवान् आगे चलकर कहते हैं कि **'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'** यदि कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती तो उसे (अर्जुनको) ज्ञानकी आवश्यकता ही क्या थी, जिसके लिये उसको ज्ञानियोंसे उपदेश सुननेका आदेश किया गया।

यदि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ भगवान्को स्वीकार होतीं तो **'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'** (गीता ५।६) कर्मयोगके बिना संन्यास दुःखसे प्राप्त होता है। अर्थात् कर्म ज्ञानका कारण है—भगवान् यह कैसे कहते ?

अब इस बातपर विचार किया जाता है कि ज्ञानसे ही मोक्षप्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) होती है, कर्मसे नहीं, इसमें क्या विनिगमक है। यदि मोक्ष स्वर्गकी तरह यज्ञादि व्यापार-जन्य (उत्पाद्य) होता तो कर्मकी आवश्यकता होती, किन्तु ऐसा होनेसे मोक्ष परिच्छिन्न और अनित्य हो जायगा। यदि दधि, घटकी तरह मोक्ष विकार्य होता तो भी क्रियाकी आवश्यकता होती, परन्तु ऐसा होनेपर भी परिच्छिन्नता और अनित्यता नहीं हटती है। यदि मोक्ष संस्कार्य होता तो भी कर्मकी आवश्यकता होती। संस्कार दो प्रकारसे किया जाता है—बाह्य गुणोंको ग्रहण करने एवं दोषोंको दूर करनेसे; सो ब्रह्मप्राप्तिरूपी मोक्ष अनाधेय अतिशय होनेसे किन गुणोंसे संस्कृत होगा और नित्य शुद्धस्वरूप होनेसे दोष ही सम्भव नहीं है तो किन दोषोंको दूर करेगा। यदि

****

भगवान् हम (जीवों) से बिलकुल भिन्न हों या हमारी तरह या हमसे विलक्षण उनके कहीं शरीरादि हों तो कायिक, वाचिक अथवा मानसिक क्रिया साध्य हों, परन्तु भगवान् तो आत्मा हैं।

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव ँस देवानाम्'

(बृ० १।४।१०)

'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'
'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि'
'वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः'

यदि पृथक् भी मानें तो भी भगवान् आकाशकी भाँति सर्वगत हैं।

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'

आकाशकी तरह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति तो भगवान्से है।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।' (तैत्ति० उ० २।१)

'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'

(गीता १०।४२)

'तावानस्य महिमा ततो ज्याया ँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥'

(छान्दो० ३।१२।६)

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥' (गीता ९।६)

वास्तवमें 'न च मत्स्थानि भूतानि ....' क्योंकि सृष्टि तो प्रतीतिमात्र है, इसलिये भगवान्को आकाशसे जो उपमा दी गयी है वह औपचारिक है।

'प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः॥'

अतएव परम प्रेमास्पद भगवान् नित्य प्राप्त हैं। उनकी प्राप्तिके लिये किस कर्मकी आवश्यकता है !

यदि आत्मा (जीव) स्वाभाविक बन्धनाश्रय होता तो स्वाभाविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मोंके निवृत्त हुए बिना नहीं हो सकती, इसलिये कभी मुक्त नहीं होता।

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्माकाङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ॥' (वार्तिककार)

'आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥'

'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥'

(श्रीमद्भागवत १० । १४ । २५-२६)

'तत्तु समन्वयात् ।' (ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४)

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।' (ब्र० सू० ३ । ४ । २६)

'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया ।
तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।' (ब्र० सू० ३ । ४ । २७)

'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।' (ब्र० सू० ४ । ४ । १)

'मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।' (ब्र० सू० ४ । ४ । २)

'आत्मा प्रकरणात् ।' (ब्र० सू० ४ । ४ । ३)

'अविभागेन दृष्टत्वात् ।' (ब्र० सू० ४ । ४ । ४)

इन सूत्रोंपर भगवान् श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यको देखिये। लेख बढ़ गया है। अतः इन सूत्रोंका अभिप्राय उद्धृत नहीं किया गया।

****

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी कर्म नहीं करता है अथवा ज्ञानीके लिये कर्म बन्धनका हेतु है।

'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्' (बृहदारण्यक)

'प्रारब्धकर्मनानात्वादबुद्धानामन्यथान्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥'
'देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नाय मस्तकम् ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विनीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥'

(पञ्चदशी)

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥'

(गीता ५।९-१०)

इन बातोंपर विचारकर केवल कर्मसे मुक्ति-प्राप्ति मेरी बुद्धिमें नहीं जँचती। हाँ, यदि यह सोचकर कि वर्तमानकालमें ज्ञानके अधिकारी प्रायः नहीं हैं। जो लोग ऊपरकी बातोंको सुनकर तत्त्व-ज्ञानके हुए बिना ही कर्मको छोड़ देते हैं, उनको रौरवादि नरकोंकी प्राप्ति अवश्य होती है। निष्काम कर्मसे मुक्ति होती है। ऐसा प्रतिपादन नहीं करेंगे तो निष्काम कर्ममें किसीकी श्रद्धा नहीं होगी। अतएव उसमें कोई प्रवृत्त नहीं होगा। यदि निष्काम कर्ममें कोई लग जाय तो अन्तःकरणकी शुद्धि अवश्य होगी। अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर ज्ञानद्वारा मुक्ति होना अनिवार्य है। इसीसे जनताके कल्याणार्थ यदि निष्काम कर्मयोगसे मुक्तिका प्रतिपादन किया गया है तो मुझे कोई शङ्का नहीं है।

उत्तर

'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखके सम्बन्धमें आपने जो शङ्का प्रकट की है

****

उसका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है।

उक्त लेखको भलीभाँति देखना चाहिये। उसमें ज्ञानके बिना केवल कर्मोंको मुक्तिका साधन नहीं बतलाया गया है। सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनों ही मोक्षके समान साधन बतलाये गये, इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार सांख्ययोगीको साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ ही मोक्ष मिल जाता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगीको भी साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-ही-साथ मुक्ति मिल जाती है। केवल साधनकालमें दोनों निष्ठाओंमें भेद है। फल दोनोंका एक ही है। इसीलिये भगवान्‌ने—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

(गीता ५।४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'

(गीता ५।५)

—इत्यादि वचन कहे हैं। पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग है और न निष्काम कर्मयोग ही। वह तो इन दोनोंका फल है। उस ज्ञानकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति पृथक्-पृथक् नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३।२४)

इससे यह पता लगता है कि आत्म-साक्षात्काररूप पूर्ण ज्ञान सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनों निष्ठाओंका फल है। अतएव बिना ज्ञानके मुक्ति बतलानेकी शङ्का तो उक्त लेखमें कहीं नहीं रह जाती है।

पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें जो—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'

—कहकर बिना निष्काम कर्मयोगके संन्यासका प्राप्त होना कठिन बतलाया है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका साधन नहीं है।

****

क्योंकि इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें—

'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।'

—से योगयुक्त मुनिके लिये तुरन्त ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। यहाँ इसका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि वह सांख्ययोगको प्राप्त होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है, तब तो पूर्वकथित—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।'

'कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' इन वचनोंका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता तथा न निष्काम कर्मयोग कोई स्वतन्त्र निष्ठा ही रह जाता है। ऐसा माननेसे तो वह एक प्रकारसे सांख्ययोगका अङ्गभूत हो जाता है जो भगवान्‌के वचनोंसे विरोधी होनेके कारण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

मोक्ष अकार्य है, उसके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु निष्काम कर्मयोगका जो इतना माहात्म्य है सो कर्मोंकी महत्ताके हेतुसे नहीं है, वह माहात्म्य है कामनाके त्यागका—सब कुछ भगवदर्पण करनेके वास्तविक भावका। बड़े-से-बड़ा सकाम कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकता, परन्तु छोटे-से-छोटे कर्ममें जो निष्कामभाव है वह मुक्ति देनेवाला होता है। निष्काम कर्मयोगकी महिमा भी वास्तवमें त्यागकी ही महिमा है, कर्मोंकी नहीं। उसमें विशेषता यही है कि समस्त कर्मोंको करता हुआ भी मनुष्य उनमें लिपायमान नहीं होता और गृहस्थ-आश्रममें रहकर भी वह भगवत्-कृपासे अनायास मुक्तिलाभ कर सकता है। इन दोनों साधनोंके साधनकालमें क्या अन्तर रहता है, इस बातका विस्तृत वर्णन उक्त लेखमें है ही।

केवल निष्काम कर्ममें लोगोंकी श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिये बिना ही हुए मुक्तिका होना सिद्ध करना किसी प्रकार भी हितकर नहीं कहा जा सकता। फिर ऐसे उद्देश्यको सामने रखकर भगवान् या कोई भी विज्ञ पुरुष लोगोंको उलटे भ्रममें डालनेके लिये इस प्रकारका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं ? भगवान्‌के स्पष्ट वाक्योंमें यह भावना करना कि, लोगोंकी श्रद्धा करानेके लिये कर्मयोगकी अयथार्थ प्रशंसा की गयी है, मेरी समझसे उचित नहीं है।

* * * * *

गीतोक्त सांख्ययोगका स्पष्टीकरण

* * * * *

रावबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजीद्वारा लिखित 'गीताका सांख्ययोग' शीर्षक लेख 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ था। काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान्‌की शङ्काके समाधान-स्वरूप मैंने जो भाव प्रकट किये थे उन्हींका विश्लेषण उपर्युक्त लेखमें किया गया है। उस लेखके पढ़नेसे प्रतीत होता है कि मेरे मूल लेखको उन्होंने नहीं देखा, इसीलिये इस विषयको वे भलीभाँति अपने अनुभवमें नहीं ला सके एवं उनके द्वारा मेरे सिद्धान्तका निर्णय भी भिन्न प्रकारसे हो गया है। ऐसी अवस्थामें अपना वक्तव्य स्पष्ट कर देनेके लिये मैं पाठकोंकी सेवामें कुछ निवेदन करना उचित समझता हूँ।

'बिना पूर्ण ज्ञानके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, इस विषयमें दोनों पक्षोंकी एकता है'—राजासाहबका यह समझना बिलकुल ठीक है, परन्तु इन दोनों पक्षोंमें प्रधान अन्तर क्या है, इसे अच्छी तरह समझनेकी और भी अधिक आवश्यकता है। मूल लेखमें सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगीके भेदोंका विस्तृत विवेचन कर देनेके कारण समाधानवाले लेखमें उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं समझा गया था। मूल लेखमें दोनोंके साधनका भेद इस प्रकार दिखाया गया है—

'निष्काम कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मफल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही सब कर्म करता है (गीता ३। ३०; ४। २०; ५। १०; ९। २७, २८; १२। ११, १२; १८। ५६, ५७)।'

****

परन्तु 'सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है' (गीता ३ । २८; ५ । ८; ९ । १३; ६ । २९-३१; १३ । २९, ३०; १४ । १९, २० ; १८ । १७ तथा ४९से५५तक)।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५ । ११), सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५ । ८-९), निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये जानेवाले कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९ । २७-२८); सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८ । १७), निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है (१२ । ६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६ । २९-३१; ७ । १९; १८ । २०), निष्काम कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८ । ९, ११, ४६, ५६, ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता (१३ । ३०) और यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे यथार्थमें नहीं, क्योंकि वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है, वास्तवमें कुछ भी नहीं मानता। निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, परन्तु सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा स्वभावसे ही कर्म होते हैं—वह करता नहीं (५ । ८-९, १३;१४ इत्यादि)।

उपर्युक्त विवेचनको विचारपूर्वक पढ़कर पाठक दोनों प्रकारके साधकोंके साधन-भेदको भलीभाँति समझ सकते हैं। दोनों निष्ठाओंके फलकी एकता बतलानेके कारण प्रचलित वेदान्तकी भाँति मेरे लेखका राजासाहब जो यह भाव निकालते हैं कि कर्मोंकी आवश्यकता केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि गीताके मतानुसार लोकसंग्रहके लिये कर्मोंकी बहुत आवश्यकता है, यह मैं मानता हूँ। 'ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग ही है और न निष्काम कर्मयोग ही'—इस वाक्यका यह आशय कभी नहीं समझना चाहिये कि पूर्वपक्षी एवं शाङ्कर सम्प्रदायके अनुसार मैं भी ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो जाना सिद्ध करता हूँ;

****

क्योंकि शरीरके रहते हुए कर्मोंका सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता। हाँ, यह बात निर्विवाद है कि 'ज्ञानीके कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति न रहनेके कारण वे कर्म वास्तवमें अकर्म ही हैं। ऐसी अवस्थामें, वह ज्ञानी यदि गृहस्थ हो तो विस्तृत कर्म करनेवाला भी हो सकता है और यदि संन्यासी हो तो अपने आश्रम-धर्मानुसार शरीर-निर्वाह और उपदेशादिरूप संक्षिप्त कर्म कर सकता है। यह व्यवस्था उसके वर्ण, आश्रम और स्वभावसे सम्बन्ध रखती है, ज्ञानसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

'ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न सांख्य है और न निष्काम कर्मयोग ही'—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी सिद्धावस्थाको पहुँच चुका है, उसके द्वारा होनेवाले कर्म किसी भी साधनकोटिमें परिगणित नहीं हो सकते। उसका तो प्रत्येक व्यवहार अनिर्वचनीय और अलौकिक है। उसके द्वारा होनेवाले आदर्श कर्मोंसे शिक्षा ग्रहणकर हमें अपने जीवनको पवित्र बनाना चाहिये।

पूर्वपक्षीके साथ प्रधान मतभेद इस विषयमें था कि उनके मतानुसार गीतोक्त निष्काम कर्मयोग सांख्ययोगका साधन है और सांख्ययोग मोक्षका स्वतन्त्र साधन हैं परन्तु मेरी समझसे गीताकार अधिकारी-भेदसे दोनोंको मोक्षके स्वतन्त्र साधन बतलाते हैं तथा पूर्णज्ञानमें और मोक्षमें कोई अन्तर नहीं मानते। निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग इन दोनों ही साधनोंका फल तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है। बस, इसी भावको स्पष्ट कर देना मेरे उस लेखका उद्देश्य था।

इसके सिवा पाठकोंकी सेवामें यह निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि लोकमान्य तिलककी भाँति अथवा श्रीराजासाहबके मतानुसार मुझे ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगका समुच्चय मान्य नहीं है, क्योंकि गीता दोनों साधनोंको स्पष्टरूपसे मोक्षके भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधन बतलाती है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३। २४)

****

'हे अर्जुन ! उस परम पुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और दूसरे (कितने ही) निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।' श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंपर ध्यान देनेसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी कल्पनाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है। और भी कई स्थानोंपर इन दोनोंका स्वतन्त्र साधनके रूपमें प्रतिपादन किया गया है। गीता ३।३; ५।५ इत्यादि।

श्रीराजासाहबका परिश्रम परम स्तुत्य है। इस प्रकार विवेचन होते रहनेसे अनेक जटिल विषयोंका सरल हो जाना सुगम है।

*****

गीताका उपदेश

* * * * *

एक सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्नोंका सुधारा हुआ स्वरूप यह है—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, उनके लिये **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** कहा गया है। ऐसे साक्षात् ज्ञानस्वरूप परमात्माने उपनिषद्रूपी गायोंसे तत्त्वरूपी दूध किसलिये दोहन किया ? और क्यों उनका आश्रय लिया ?

(२) क्या वर्तमान समयके गीता-भक्तोंकी भाँति अर्जुन श्रद्धासम्पन्न नहीं थे ? यदि श्रद्धालु थे तो श्रीभगवान्‌को उन्हें समझानेके लिये शब्द-प्रमाणका क्यों प्रयोग करना पड़ा और अन्तमें क्यों विश्वरूप दिखलानेकी आवश्यकता हुई ?

(३) अर्जुनको 'गीताका ज्ञान हो गया था' फिर आगे चलकर उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि 'हे भगवन् ! आपने सख्यभावसे मुझे जो कुछ कहा था, उसे मैं भूल गया ?' तो क्या अर्जुन प्राप्त-ज्ञानको भूल गये थे ?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने इसके उत्तरमें कहा कि 'हे धनंजय ! मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुमसे वह ज्ञान कहा था, अब पुनः मैं उसे कहनेमें असमर्थ हूँ। तो क्या सर्वज्ञ भगवान् भी आत्मविस्मृत हो गये थे, जिससे उन्होंने पुनः वह ज्ञान कहनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। और योगयुक्त होनेका क्या अर्थ है ?

(५) यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् गीताज्ञान अर्जुनको फिरसे नहीं सुना सके, तब फिर व्यासजीने अनेक दिनों बाद उसे कैसे दुहरा दिया ?

(६) अगर गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है तो भगवान् व्यासके इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो उन्होंने श्रीगणेशजीके प्रति कहे हैं—

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च॥

(महा० आदि० १।७७)

'हे गणनायक! तुम मेरे मनःकल्पित और वक्तव्यरूप इस भारतके लेखक बनो' गीता महाभारतके अन्तर्गत है, इससे यह भी क्या व्यासजीकी मनःकल्पना है और क्या सारे श्लोक उन्हींके रचे हुए हैं?

उपर्युक्त प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्के निश्वासरूप वेदका अंग होनेसे उपनिषद् भी
ही अनादि और नित्य उपदेश माने गये हैं। उनके आश्रयकी
भगवान्ने संसारमें उनकी विशेष महिमा बढ़ानेके लिये ही
किया। इसके सिवा उपनिषद्की भाषा और वर्णनशैली
अधिकांश लोग समझनेमें भी असमर्थ हैं, इसलिये
भगवान्ने उपनिषदोंका सार निकालकर गीतारूपी
वास्तवमें उपनिषद् और गीता एक ही वस्तु है।

(२) आजकलके लोगोंके साथ अर्जुनकी
अर्जुन तो महान् श्रद्धासम्पन्न, परम विश्वासी
श्रीमुखसे स्वीकार किया है—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति'
'इष्टोऽसि मे दृढमिति'
'प्रियोऽसि मे'

'तू मेरा भक्त है, मित्र है, दृढ़ इष्ट है,
सखा अर्जुनके प्रेमके कारण ही
उसके रथके घोड़े स्वयं हाँके।

****

भी नहीं आते। अतएव यह नहीं मानना चाहिये कि अर्जुन श्रद्धालु नहीं था। भगवान्‌ने शब्द-प्रमाण तो वेदोंकी सार्थकता और उनका आदर बढ़ानेके लिये दिया। विश्वरूप-दर्शन करानेमें तो अर्जुनकी श्रद्धा प्रधान है ही। गीताके दशम अध्यायमें अर्जुनने जो कुछ कहा है वही उसकी श्रद्धाका पूरा प्रमाण है। अर्जुन कहता है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं, हे केशव! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले, हे भूतोंके ईश्वर, हे देवोंके देव, हे जगत्‌के स्वामी, हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

इन शब्दोंमें अर्जुनकी श्रद्धा छलकी पड़ती है। इस प्रकार भगवान्‌की महिमाको जानने और बखाननेवाला अर्जुन जब (एकादश अध्यायमें) यह प्रार्थना करता है कि 'नाथ! आप अपनेको जैसा कहते हैं (यानी दशम अध्यायमें जैसा कह आये हैं) ठीक वैसे ही हैं, परन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ—'**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्**' अर्जुन परम विश्वासी था, भगवान्‌के प्रभावको जानता और मानता था। इसीलिये भगवान्‌की परम दयासे उनके दिव्य विराट्‌रूपके दर्शन करना चाहता है, भक्तकी इच्छा पूर्ण करना भगवान्‌की बान

***

है। इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके उसे विश्वरूप दिखलाया। यह विश्वरूप श्रद्धासे ही दिखाया गया, श्रद्धा या विश्वास करवानेके हेतुसे नहीं। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि 'अनन्य भक्तके सिवा किसी दूसरेको यह रूप मैं नहीं दिखा सकता। मेरा यह स्वरूप वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपोंसे नहीं दीख सकता।' इससे यह सिद्ध है कि अर्जुन परम श्रद्धालु, भगवत्परायण और महान् भक्त था। भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका स्वरूप और फल यह बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११।५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ—यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मुझको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्काम-भावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है। ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

(३) अर्जुनने 'निष्काम कर्मयोगसहित शरणागतिरूप भक्ति'को ही अपने लिये प्रधान उपदेश समझकर उसीको विशेष स्मरण रखा था। भगवान्‌के कथनानुसार इसीको 'सर्वगुह्यतम' माना था। ज्ञानके उपदेशको शरणागतिकी अपेक्षा गौण समझकर उसकी इतनी परवा नहीं की थी। इस प्रसंगमें भी अर्जुन उस 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिके लिये कुछ नहीं पूछता। यह भक्तिसहित तत्त्वज्ञान तो उसे स्मरण ही है। इसीलिये भगवान्‌ने भी उससे कहा कि मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था—

****

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।

(महा० आश्व० १६।९)

इस 'गुह्य' शब्दसे भी यही सिद्ध होता है। उलाहना देनेके बाद भगवान्ने अर्जुनको जो कुछ सुनाया, उसमें भी गीताकी भाँति निष्काम कर्मयोग और शरणागतिके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। केवल वही ज्ञानभाग सुनाया, जिसको कि अर्जुन भूल गया था।

(४) भगवान्के अपनेको असमर्थ बतलानेका यह अर्थ नहीं कि आप उस ज्ञानको पुनः सुना नहीं सकते थे या वे उसको भूल गये थे। सच्चिदानन्दघन भगवान्के लिये ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। भगवान्के कहनेका अभिप्राय ज्ञानयोगका सम्मान बढ़ाना है। गुरु अपने शिष्यसे कहता है कि 'तुझको मैंने बड़ा ऊँचा उपदेश दिया था, उसे तूने याद नहीं रखा। आत्मज्ञानका उपदेश कोई बाजारू बात नहीं है जो जब चाहे तभी कह दी जाय।' इस प्रकार यहाँ 'असमर्थता'का अर्थ यही है, मैं इतनी ऊँची बात इस तरह लापरवाही रखनेवालेको नहीं कह सकता। उद्दालक, दधीचि, सत्यकाम आदि ऋषियोंका ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें एक ही बार कहना माना जाता है। ब्रह्मविद्या एक ऐसी वस्तु है जो एक ही बार पात्रके प्रति कहनी पड़ती है, दुबारा नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ब्रह्मविद्याका उपदेश तुमने भुला दिया, यह बड़ी भूल की।' इसके बाद अर्जुनकी तीव्र इच्छा देखकर भगवान्ने पुनः ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। भगवान् न जानते तो उपदेश कैसे करते? 'योगयुक्त'का अर्थ यही है कि 'उस समय मैंने बहुत मन लगाकर तुमको वह ज्ञान सुनाया था।' इससे अर्जुनको एक तरहकी धमकी भी दी गयी कि 'मैं बार-बार वैसे मन लगाकर तुमसे नहीं कह सकता, इतना निकम्मा नहीं बैठा हूँ जो बार-बार तुमसे कहूँ और तुम उसे फिर भुला दो। तुम-सरीखे पुरुषके लिये ऐसा उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करना पवित्र ब्रह्मविद्याका तिरस्कार करना है।' यहाँ भगवान्ने अर्जुनके बहाने सबको शिक्षा दी है कि ब्रह्मविद्याको बड़े ध्यानसे सुनना चाहिये

और वक्ताको भी उसका ऐसे अधिकारी पुरुषके प्रति कथन करना चाहिये जो सुननेके साथ ही उसे धारण कर ले।

यद्यपि अर्जुन ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं था, निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागतिका अधिकारी था, इसीसे उसे 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिका ही अन्तिम उपदेश दिया गया था तथापि भगवान्‌का यह उलाहना देना तो सार्थक ही था कि तुम मेरी कही हुई बातोंको क्यों भूल गये। शरणागतको अपने इष्टकी बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानका अधिकार ऊँची श्रेणीका है और निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागति भक्तिका नीची श्रेणीका। जब दोनोंका फल एक है तब इनमें कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। अर्जुन कर्मी और भक्त था, अतः उसके लिये वही मार्ग उपयुक्त था।

(५) भगवान् सब सुना सकते थे, यह बात तो ऊपरके विवेचनसे सिद्ध है। भगवान् व्यास महान् योगी थे, उन्होंने योगबलसे सारी बातें जानकर सुना दी। जिनकी योगशक्तिसे संजय दिव्य दृष्टि प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया, उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी?

(६) व्यासजीके कहनेका मतलब यह है कि उन्होंने कुछ तो संवाद ज्यों-के-त्यों रख दिये, कुछ संवादोंको संग्रह करके उन्हें सजा दिया। भगवान्‌ने अर्जुनको जो उपदेश दिया था उसमेंसे बहुत-से श्लोक तो ज्यों-के-त्यों रख दिये गये, कुछ गद्य भागके पद्य बना दिये और कुछ इतिहास कहा। दुर्योधन, संजय, अर्जुन और धृतराष्ट्र आदिकी दशाका वर्णन व्यासजीकी रचना है। इससे यह नहीं मानना चाहिये कि यह मनःकल्पित उपन्यासमात्र है। वास्तवमें व्यासजीने अपने योगबलसे सारी बातें जानकर ही सच्चा इतिहास लिखा है।

* * * * *

गीता और योगदर्शन

* * * * *

योगदर्शन बड़े ही महत्त्वका शास्त्र है। इसके प्रणेता महर्षि श्रीपतञ्जलि महाराज हैं। योगदर्शनके सूत्रोंका भाव बहुत ही गम्भीर, उपादेय, सरस और लाभकारी है। कल्याणकामियोंको योगदर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पता नहीं, योगदर्शनकी रचना श्रीमद्भगवद्गीताके बाद हुई है या पहले। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनोंके कई स्थलोंमें समानता है। कहीं शब्दोंमें समानता है तो कहीं भाव या अर्थोंका सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ दिखलाये जाते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१।१२)

(२) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१।१४)

(३) तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२७-२८)

(४) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

श्रीमद्भगवद्गीता

(१) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६।३५)

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। (८।१४)

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। (८।१३)

(४) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (५।२

इनके अतिरिक्त केवल भावमें सदृशतावाले स्थल भी हैं, जैसे योगदर्शन (२ । १९) का सूत्र है '**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि**' अर्थात् 'पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विकारोंका समुदायरूप विशेष; अहंकार और पञ्चतन्मात्रा'—इन छः का समुदायरूप अविशेष; समष्टि-बुद्धिरूपी लिङ्ग और अव्याकृत प्रकृतिरूप अलिङ्ग—ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिकी अवस्थाविशेष हैं। इसी बातको बतलानेवाला गीताका तेरहवें अध्यायका ५ वाँ श्लोक है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा।

उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार दोनोंके कई स्थल मिलते-जुलते होनेके कारण कुछ लोगोंका मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जलयोगदर्शनके बाद बनी है और इसमें यह सब भाव उसीसे लिये गये हैं। कुछ लोग तो गीताको योगदर्शनका रूपान्तर या उसीका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझसे यह मत ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना योगदर्शनके बाद हुई हो या पहले, इस विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भगवद्गीताका सिद्धान्त योगदर्शनकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और सर्वदेशीय है।

योगदर्शनका योग केवल एक ही अर्थमें प्रयुक्त है, परन्तु गीताका योग शब्द अनन्त समुद्रकी भाँति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्माकी प्राप्तितकको गीतामें योग कहा गया है। इसके सिवा निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यान, ज्ञान आदिको भी योगके नामसे कहा गया है। योग शब्द किस-किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह इसी पुस्तकमें अन्यत्र दिखाया गया है। योगदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप है—

गीता और योगदर्शन

* * * * *

योगदर्शन बड़े ही महत्त्वका शास्त्र है। इसके प्रणेता महर्षि श्रीपतञ्जलि महाराज हैं। योगदर्शनके सूत्रोंका भाव बहुत ही गम्भीर, उपादेय, सरस और लाभकारी है। कल्याणकामियोंको योगदर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पता नहीं, योगदर्शनकी रचना श्रीमद्भगवद्गीताके बाद हुई है या पहले। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनोंके कई स्थलोंमें समानता है। कहीं शब्दोंमें समानता है तो कहीं भाव या अर्थोंका सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ दिखलाये जाते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१।१२)

(२) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१।१४)

(३) तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२७-२८)

(४) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

श्रीमद्भगवद्गीता

(१) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६।३५)

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। (८।१४)

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। (८।१३)

(४) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (५।२२)

इनके अतिरिक्त केवल भावमें सदृशतावाले स्थल भी हैं, जैसे योगदर्शन (२।१९) का सूत्र है '**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि**' अर्थात् 'पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विकारोंका समुदायरूप विशेष; अहंकार और पञ्चतन्मात्रा'—इन छः का समुदायरूप अविशेष; समष्टि-बुद्धिरूपी लिङ्ग और अव्याकृत प्रकृतिरूप अलिङ्ग—ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिकी अवस्थाविशेष हैं। इसी बातको बतलानेवाला गीताका तेरहवें अध्यायका ५ वाँ श्लोक है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्रा।

उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार दोनोंके कई स्थल मिलते-जुलते [illegible] कारण कुछ लोगोंका मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जलयोगदर्शन[illegible] है और इसमें यह सब भाव उसीसे लिये गये हैं। कुछ [illegible] योगदर्शनका रूपान्तर या उसीका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। [illegible] मत ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना योगदर्शनके [illegible] इस विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु [illegible] सकता है कि भगवद्गीताका सिद्धान्त योगदर्शन[illegible] व्यापक और सर्वदेशीय है।

योगदर्शनका योग केवल एक ही अर्थ[illegible] शब्द अनन्त समुद्रकी भाँति विशाल है [illegible] परमात्माकी प्राप्तितकको गीतामें योग कहा [illegible] भक्ति, ध्यान, ज्ञान आदिको भी [illegible] किस-किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, [illegible] योगदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप है—

****

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१।२४)

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१।२५)

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१।२६)

जो अविद्या, अहंता, राग, द्वेष, भय, शुभाशुभ कर्म, कर्मोंके फलरूप सुख-दुःख और वासनासे सर्वथा रहित है, पुरुषोंमें उत्तम है, जिसकी सर्वज्ञता निरतिशय है एवं जो कालकी अवधिसे रहित होनेके कारण पूर्वमें होनेवाले समस्त सृष्टिरचयिता ब्रह्मा आदिका स्वामी है, वह ईश्वर है।

अब गीताके ईश्वरका निरूपण संक्षेपसे कुछ श्लोकोंमें पढ़कर दोनोंकी तुलना कीजिये—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

(८।९)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

(१३।१४)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४।२७)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(१५।१८)

इन श्लोकोंके अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्य-स्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाश-

स्वरूप, अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला होनेपर भी सब इन्द्रियोंसे रहित, आसक्तिहीन, गुणातीत होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंका भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय, नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम पुरुषोत्तम है वह ईश्वर है।*

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ईश्वर त्रिगुणोंके विकारसे रहित है, परन्तु गीताके अनुसार वह गुणोंसे अतीत ही है। योगदर्शनका ईश्वर क्लेश, शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख और वासनारहित एवं पुरुषविशेष होनेसे पुरुषोत्तम है, पर गीताका ईश्वर जड जगत्से सर्वथा अतीत, सर्वव्यापी और मायास्थित जीवसे भी उत्तम होनेके कारण पुरुषोत्तम है। योगदर्शनका ईश्वर कालके अवच्छेदसे रहित होनेके कारण पूर्व-पूर्व सर्गमें होनेवाले सृष्टि-रचयिताओंका गुरु है; परन्तु गीताका ईश्वर अव्यय परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्दका भी परम आश्रय है। गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिसे गुणोंका भोक्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाला है।

इसी प्रकार 'ईश्वर-शरणागति' के सिद्धान्तमें भी गीताका अभिप्राय बहुत उच्च है। योगदर्शनका 'ईश्वर-प्रणिधान' चित्तवृत्ति-निरोधके लिये किये जानेवाले अभ्यास और वैराग्य आदि अन्य साधनोंके समान एक साधन है, इसीसे 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) सूत्रमें 'वा' लगाया गया है। परन्तु गीतामें ईश्वर-शरणागतिका साधन समस्त साधनोंका सम्राट् है (गीता ९।३२; १८।६२, ६६ देखना चाहिये)।

गीताके ध्यानयोगका फल भी योगदर्शनसे महत्त्वका है। योगदर्शन कहता है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। (२।११)

---

* परमात्माका स्वरूप जाननेके लिये 'कल्याण प्राप्तिके उपाय'में प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं?' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

****

अर्थात् 'ध्यानसे क्लेशोंकी वृत्तियोंका नाश होता है।' परन्तु गीता कहती है—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।' (१३।२४)

'कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखते हैं। वहाँ केवल क्लेशोंकी वृत्तियोंका ही नाश है, पर यहाँ ध्यानसे परमात्म-साक्षात्कारतक होनेकी बात है।

इसी तरहसे अन्य कई स्थल हैं। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके श्रीमुखकी दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षिके विचार हैं। भगवान्‌के साथ ज्ञानीकी अभिन्नता रहनेपर भी भगवान् भगवान् ही हैं।

इस विवेचनसे यह प्रतीत होता है कि गीताका महत्त्व सभी तरह ऊँचा है तथा गीताके प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्श हैं।

इससे कोई यह न समझे कि मैं योगदर्शनको किसी तरहसे भी मामूली वस्तु समझता हूँ या उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि मानता हूँ। योगदर्शन परम उपादेय और आदरणीय शास्त्र है। केवल गीताके साथ तारतम्यताकी दृष्टिसे ऐसा लिखा गया है।

* * * * *

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका लक्षण

* * * * *

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वदा-सर्वथा सर्वत्र समभाव है। जहाँ-जहाँपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहाँ-वहाँ समताका ही उल्लेख पाया जाता है। गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है। ऐसे जीवन्मुक्तमें राग-द्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है; मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति उसके हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती। किसी भी कालमें किसीके साथ किसी प्रकारसे भी उसकी साम्य-स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता। निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि नहीं होती। दोनोंमें समान वृत्ति रहती है। मूढ़ अज्ञानी मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुःखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं। सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। पर जीवन्मुक्तका अन्तःकरण इन दोनों भावोंसे

वे वस्तुतः इसका मर्म नहीं समझते। इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन-मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पाँच जीवोंका उल्लेख किया गया है, जिनके व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखता है। यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश, काल, पात्र या पदार्थमें कोई भेदबुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भाँति न्याययुक्त व्यवहार करता है (गीता ३।२५-२६), क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (गीता ३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, अन्य लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।' वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्याकर्तव्य या विधि-निषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुक्तिकामी पुरुषोंको असत्-मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है। उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है। इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं। उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ (गीता ५।२०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।' सुख-दुःख, अनुकूल

****

ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टि शरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अँगुलीके कटनेका अनुभव दूसरी अँगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसी प्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खान-पान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है, फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये। आचाररहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनको सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है। ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है ? वास्तवमें समदर्शन ही यथार्थ ज्ञान है। समवर्तनका कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो जङ्गली मनुष्यों तथा पशुओंमें प्रायः पायी जाती है।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति आदिमें समदर्शन करना ही यथार्थ समता है।

यह समता ही एकता है। यही परमेश्वरका स्वरूप है। इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जिसकी इसमें गाढ़ स्थिति होती है उसके

हृदयमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी किसी भी कार्यके आने-जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष-शोक और रागद्वेषका विकार नहीं होता। इस समबुद्धिके कारण वह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता, इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। किसी भी गुणके कार्यसे वह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसीसे वह गुणातीत है। एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है, इसीसे वह ज्ञानी है। परमात्मा वासुदेवके सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता, इसीसे वह भक्त है। उसे कोई कर्म कभी बाँध नहीं सकता, इसीसे वह जीवन्मुक्त है। इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य आचरण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी, उसके कार्योंमें अज्ञानी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हुआ उसीमें एकीभावसे सदा-सर्वदा स्थित रहता है। उसका वह आनन्द नित्य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है। लौकिक बुद्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

*****

गीताके अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्मका विवेचन

* * * * *

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

(गीता १३ । २२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर (त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है, ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन भी कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार-अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका; उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परम पुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि **'किं तद्ब्रह्म'** 'वह ब्रह्म क्या है ?' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा, **'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' **'किं अध्यात्मम्'** 'अध्यात्म क्या है ?' के उत्तरमें

'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और **'कः अधियज्ञः'** 'अधियज्ञ कौन है ?' के उत्तरमें **'अधियज्ञोऽहमेवात्र'** 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्वके श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ, सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९।११)। भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वर और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(१४।२७)

'हे अर्जुन ! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धामका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (१३।२)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान।' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त यह बतलानेवाले भी शब्द हैं कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (७।७)
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (९।१९)
वासुदेवः सर्वमिति..............। (७।१९)

'हे धनंजय ! मुझसे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूँ, मैं ही वर्षाको आकर्षण करता और बरसाता हूँ, हे अर्जुन ! अमृत और मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ। यह सब कुछ वासुदेव ही है।' इस प्रकार गीतासे जीव, ईश्वर और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

इस अभेदका स्वरूप बतलाते हुए पण्डितगण जीवात्माको घटाकाश, ईश्वरको मेघाकाश और ब्रह्मको महाकाशके दृष्टान्तसे समझाया करते हैं। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेदसे त्रिविध प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही त्रिविध कल्पना है। यह व्याख्या आंशिकरूपसे मान्य और लाभदायक भी है, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें ऐसा विभाग नहीं समझ लेना चाहिये। आकाश विकारी है, उसमें विकारसे भेद सम्भव है, परन्तु ब्रह्म निर्विकार शुद्ध बोधस्वरूप अटल है, अतएव उसमें आकाशकी भाँति विकार सम्भव नहीं। वास्तवमें यह बड़ा ही गहन विषय है। भगवान्‌ने भी समझानेके लिये कहा है, **'ममैवांशो जीवलोके'** जीवात्मा मेरा ही अंश है, परन्तु वह किस प्रकारका अंश है यह समझना कठिन है। कुछ विद्वान् इसके लिये स्वप्नका

दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अन्दर नाना प्रकारके पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता तथा उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है, स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे, इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं। यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त, ज्ञानघन परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता। अतएव उदाहरण-युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझना-समझाना असम्भव-सा ही है। गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है। इसीसे यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। (कठ० ३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' भगवान्‌ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४।३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्, प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं। ऐसे बहुत-से स्थल हैं जहाँ भेद-मूलक शब्द भी पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे तीनोंका भिन्न-भिन्न वर्णन है। शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत, अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान-आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है। जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(गीता १३।१२)

****

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूँगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे अतीत है।' **'अक्षरं ब्रह्म परमम्'**, **'अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्'** आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियाँ भी **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१) **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐ० ३।३) आदि कहती हैं।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता और शासनकर्ता आदिके रूपमें किया गया है। यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९।१०)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

(गीता १०।६)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८।६१)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है। इस हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है। सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है। हे अर्जुन! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।' इसी तरह अ० ४।१३में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता'; अ० ५।२९ में 'सर्वलोकमहेश्वर'; अ० ७।६में 'सम्पूर्ण

जगत्के उत्पत्ति-प्रलयरूप'; अ० ११। ३२में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि लक्षणोंसे निरूपण किया गया है। जैसे अ० २।१८में 'नित्य अविनाशी अप्रमेय'; अ० १३।२१में 'प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके सङ्गसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला'; अ० १५।७में 'सनातन अंश'; अ० १५।१६में 'अक्षर कूटस्थ' आदि लक्षणोंसे वर्णन है।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं। एक ओर जहाँ अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ दूसरी ओर (अध्याय १२।२में) सगुणोपासककी प्रशंसाकर भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है। इससे स्वाभाविक ही यह शंका होती है कि गीतामें भेदका प्रतिपादन है या अभेदका ? जब भेद और अभेद दोनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है तब उनमेंसे किसी एकको गलत नहीं कहा जा सकता। परन्तु सत्य कभी दो नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है। अतः इस विषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि वास्तवमें जो वस्तुतत्त्व है उसको न भेद ही कहा जा सकता है और न अभेद ही। वह सबसे विलक्षण है, मन-वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति वाणी या तर्क-युक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती, जो जानते हैं वे ही जानते हैं। जाननेवाले भी उसका वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते। श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ (केन २।२)

'मैं ब्रह्मको भली प्रकार जानता हूँ ऐसा नहीं मानता और यह भी नहीं मानता कि मैं नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ। हमलोगोंमेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है वह भी इस बातको जानता है कि मैं नहीं जानता, ऐसा नहीं मानता, क्योंकि जानता भी हूँ।'

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ लेता, तबतक इनका भेद मानकर साधन करना अधिक सुरक्षित और लाभदायक है, गीतामें दोनों प्रकारके [illegible]ोंसे प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्‌ने दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये

वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह अतर्क्य विषय परमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'—

आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'*

* * * * *

---

* शरणागतिके विषयमें सविस्तर देखना हो तो 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय'में 'शरणागति' शीर्षक लेख देखें।

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

* * * * *

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

(गीता ४ । १७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है—कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा जाता है। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १—इस लोक या परलोकमें जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है। २—जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुःखदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि लोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रखा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात हो तो फिर ऐसा कौन-सा गहन था जो सर्वसाधारणके समझमें न आता ? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।' (गीता ४ । [illegible])

****

वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह अतर्क्य विषय परमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'—

आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'*

* * * * *

---

* शरणागतिके विषयमें सविस्तर देखना हो तो 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय'में 'शरणागति' शीर्षक लेख देखें।

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

* * * * *

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

(गीता ४ । १७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है—कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्‌का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा जाता है। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १—इस लोक या परलोकमें जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है। २—जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुःखदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि हमलोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रखा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात हो तो फिर ऐसा कौन-सा रहस्य था जो सर्वसाधारणके समझमें न आता? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं—

'**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।**' (गीता ४ । १६)

****

—और क्यों इसे गहन ही बतलाते ?

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मरूपमें परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसङ्गत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती हैं। इसमें भाव ही प्रधान है, जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसङ्गत उत्तम कर्म किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि-रूप विधेय कर्म भी किया जाता है वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (गीता १७ । १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीड़ासहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (गीता ९ । २७-२८, १२ । १०-११)। मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है।

अथवा—

ख—परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है (गीता ३ । २८; ५ । ८-९; १४ । १९)।

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमें बदल जाते हैं। इनमें भी भाव ही प्रधान है—

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म-से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं (गीता २। ३७)।

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्म-से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (गीता २। ३८; १८। १७)।

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है। क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रिया-त्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है। इसमें भी भाव ही प्रधान है।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखनेपर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग'रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म

****

दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये (३ । ६; १८ । ७) ।

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अन्दर समाधिकालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म यथार्थ अकर्म है (२ । ५५, ५८; ६ । १९,२५) ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता, भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

(४ । १८)

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

(४ । १६)

*****

गीतोक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

* * * * *

सातवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठें श्लोकोंमें 'अपरा', 'परा' और 'अहम्'के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र', 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्'के नामसे एवं पंद्रहवें अध्यायके सोलह और सत्रहवें श्लोकमें 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम'के नामसे है। इन तीनोंमें 'अपरा', 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड जगत्के वाचक हैं, 'परा', 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहम्', 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर—प्रकृतिसहित विनाशी जड तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके सूक्ष्म भावरूप पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) दस इन्द्रियाँ, एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाँच विषय इस प्रकार चौवीस क्षर तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेप रूप पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' है। या यों समझना चाहिये कि

****

'क्षरः सर्वाणि भूतानि'का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें (दस) कार्य, (तेरह) करण और (एक) प्रकृतिके नामसे **(कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते)** एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें **'महद्ब्रह्म'** और **'मूर्तयः'** शब्दोंसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति'के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ'के नामसे और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थ' और 'अक्षर' के नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है, परन्तु गीतामें 'अक्षर' और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, बल्कि ये दोनों ही स्थान-स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे—

> **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
> **युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः** ॥(६।८)
> **ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।**
> **सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्** ॥(१२।३)
> **अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।** (८।२१)
> **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्** । (३।१५)

दूसरी बात यह विचारणीय है कि आगे चलकर पंद्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मैं 'क्षर'से अतीत हूँ और 'अक्षर'से भी उत्तम हूँ। यदि 'अक्षर' प्रकृतिका वाचक होता तो 'क्षर' की भाँति इससे भी भगवान् अतीत ही होते, क्योंकि प्रकृतिसे तो परमात्मा अतीत हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। (७।१३-१४)

इन श्लोकोंसे सिद्ध है कि प्रकृति गुणमयी है और भगवान् गुणोंसे अतीत हैं। कहीं भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जहाँ ईश्वरको प्रकृतिसे उत्तम बतलाया गया हो। इससे यही समझमें आता है कि यहाँ 'अक्षर' शब्द जीवका वाचक है। मायाबद्ध चेतन जीवसे शुद्ध निर्विकार परमात्मा उत्तम हो सकते हैं, अतीत नहीं हो सकते। इसलिये यहाँ अक्षरका अर्थ प्रकृति न मानकर जीव मानना ही उत्तम और युक्तियुक्त है। स्वामी श्रीधरजीने भी यही माना है।

इसी जीवात्माका वर्णन सातवें अध्यायके उनतीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा तीसरे श्लोकमें 'अध्यात्म'के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १९, २०, २१में 'पुरुष' शब्दसे है। वहाँ सुख-दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित और सदसद्योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण 'पुरुष' शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है। पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज'के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है। जीवात्मा चेतन है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, भोक्ता है, इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने विभिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्‌ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टि-पालन और संहारकर्ताके रूपमें, कहीं [illegible], कहीं धारणकर्ता और पोषणकर्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम, परमेश्वर, [illegible], [illegible] और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है। 'अहम्', 'माम्' आदि शब्दोंसे जहाँ-तहाँ इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोधस्वरूपका वर्णन किया गया है। जैसे—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ (७।६)

****

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । (१५ । १७)
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५ । १८)
—वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ (१५ । १५)
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । (१३ । २७)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके वर्णनमें क्षर प्रकृति तो जड और विनाशशील है। अक्षर जीवात्मा नित्य, चेतन, आनन्दरूप प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न होते हुए भी अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा अविद्याका सम्बन्ध नाश हो जानेपर जब वह परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता, अतएव वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। पुरुषोत्तम परमात्मा नित्यमुक्त, प्रकृतिसे सदा अतीत, सबका महाकारण, अज, अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित है। वस्तुतः परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परम पदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अतः इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ (६ । २३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये, वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्पर-चित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।

*****

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद ?

* * * * *

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं, इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौन-सा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वादविशेषको लेकर नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिसमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं। जैसे—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

(८।१८-१९)

'इसलिये वे यह भी जानते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं। और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।'

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड पदार्थ अव्यक्त समष्टि-शरीरसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लय हो जाते हैं। यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न या लय होते हुए-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्पष्ट उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्तका ही व्यक्तरूपमें परिणामको प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्तसे पुनः अव्यक्तरूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वोंका संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके श्लोक ३, ४में 'महद्ब्रह्म' कहा है। महासर्गके आदिमें सम्पूर्ण मूर्तियों (शरीरों) की उत्पत्तिमें महद्ब्रह्मको ही कारण बतलाया है। अर्थात् जडवर्गके विस्तारमें इस प्रकृतिको ही हेतु माना है। अध्याय १३। १९-२० में भी कार्यकरणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीरूप पाँच सूक्ष्मभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय—इन दसको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहङ्कार, मन (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिका ३में कहा है—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ मूल प्रकृति-विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति।

अव्याकृत मायाका नाम मूल-प्रकृति है। वह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है, ऐसा कहा जाता है। महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि), अहङ्कार, भूतोंकी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति हैं। मूल-प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है इसीसे इन्हें ही प्रकृति कहते हैं, अतएव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूल भूत—ये सोलह विकृति हैं। सात प्रकृति-विकृति अहङ्कार और तन्मात्रासे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसीकी

कुछ देखनेमें आता है, सो सब प्रकृतिका कार्य है। यानी प्रकृति ही परिणामको प्राप्त हुई है। जीवात्मासहित जो चतुर्विध देहोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और उस पुरुषके संयोगसे होती है। इनमें जितने देह—शरीर हैं, वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है सो परमेश्वरका अंश है। चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् हैं।

भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(१४।४)

'हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।' गीतामें इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह-जगह मिलता है, कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९।१०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूँ (९।८) ऐसे वचन मिलते हैं। सिद्धान्त एक ही है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है। परमेश्वर अपरिणामी है, गुणोंसे अतीत है। इस संसारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है; परन्तु उसके परिणामसे परिणामी नहीं होता। आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है।' इसीलिये गीताने [illegible]

उत्पत्ति नहीं है इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं है विकृतिमात्र है। सांख्यके अनुसार मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्रा, फिर अहङ्कारसे ११ इन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्रासे पञ्च स्थूल भूत। गीताके १३वें अध्यायके ५वें श्लोकमें [illegible]

गीतामें ज्ञान, योग आदि शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

* * * * *

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक-एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसंगका उदाहरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसंग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुत-से मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४। ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) सांख्यज्ञान—अ० ३। ३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) परोक्षज्ञान—अ० १२। १२—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्म-फल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान न होकर परोक्षज्ञान है।

(४) साधनज्ञान—अ०१३। ११—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है, इससे साधनज्ञान है।

(५) विवेकज्ञान—अ०१४। १७—यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है।

(६) लौकिक ज्ञान—अ० १८।२१—इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है।

(७) शास्त्रज्ञान—अ० १८।४२—इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) भगवत्-प्राप्तिरूप योग—अ० ६।२३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६।१९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है।

(३) निष्काम कर्मयोग—अ० २।४८—योगमें स्थित होकर आसक्ति-रहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है।

(४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ९।५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है।

(५) भक्तियोग—अ० १४।२६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है।

(६) अष्टाङ्गयोग—अ० ८।१२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टाङ्गयोग है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३।२४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(९) ईश्वर—अ॰ १०।१७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ॰ ६।८—ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण-मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) ज्ञानी-भक्त—अ॰ १२।१४—परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानी-भक्तका वाचक है।

(४) निष्काम कर्मयोगी—अ॰ ५।११—आसक्तिको त्यागकर आत्म-शुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ॰ ५।२४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्त—अ॰ ८।१४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तका वाचक है।

(७) साधकयोगी—अ॰ ६।४५—अनेकजन्मसंसिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधक योगीका वाचक है।

(८) ध्यानयोगी—अ॰ ६।१०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(९) सकाम कर्मयोगी—अ॰ ८।२५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञानी—अ॰ ६।८—ज्ञानविज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है।

(२) निष्काम कर्मयोगी—अ॰ ५।१२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है।

(३) सांख्ययोगी—अ० ५। ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है।

(४) ध्यानयोगी—अ० ६। १८—वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(५) संयमी—अ० २। ६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्म-परायण होनेसे यह संयमीका वाचक है।

(६) संयोगसूचक—अ० ७। २२—श्रद्धाके साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है।

(७) यथायोग्य व्यवहार—अ० ६। १७—यथायोग्य आहार, विहार, शयन और चेष्टा आदि लक्षणवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ३। १७—ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें सन्तुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० १०। २०—सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है।

(३) शुद्धचेतन—अ० १३। २९—अकर्ता होनेसे शुद्ध चेतनका वाचक है।

(४) स्वरूप—अ० ७। १८—ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण यह स्वरूप ही समझा जाता है। इससे स्वरूपका वाचक है।

(५) परमेश्वरका सगुणस्वरूप—अ० ४। ७—अवतारूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुणस्वरूपका वाचक है।

(६) जीवात्मा—अ० १६। २१—अधोगतिमें जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है।

(७) बुद्धि—अ० १३। २४—(आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है। अतः यह बुद्धिका वाचक है।

****

(८) अन्तःकरण—अ० १८।५१—इसमें **'आत्मानं नियम्य'** यानी आत्माको वशमें करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्तःकरणका वाचक है।

(९) हृदय—अ० १५।११—इसमें **'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्'** 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं। आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अतः यहाँ यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है।

(१०) शरीर—अ० ६।३२—**'आत्मौपम्येन'** अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहाँ आत्मा शरीरका वाचक है।

(११) निजवाचक—अ० ६।५—आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निजवाचक है।

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ७।२९—भगवान्‌के शरण होकर जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहाँ परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० ५।१०—सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है।

(३) प्रकृति—अ० १४।४—महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है।

(४) ब्रह्मा—अ० ८।१७—कालकी अवधिवाला होनेसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है।

(५) ओंकार—अ० ८।१३—'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे यहाँ ब्रह्म शब्द ओंकारका वाचक है।

(६) वेद—अ० ३।१५—(पूर्वार्ध) कर्मकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है।

(७) परमधाम—अ० ८। २४—शुक्ल-मार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परमधामका वाचक है।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० १२। १—अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) शुद्ध चेतन—अ० २। २५—स्पष्ट है।

(३) प्रकृति—अ० १३। ५—स्पष्ट है।

(४) ब्रह्माका सूक्ष्मशरीर—अ० ८। १८—स्पष्ट है।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ८। ३—ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) जीवात्मा—अ० १५। १६—कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्य रूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है।

(३) ओंकार—अ० ८। १३—स्पष्ट है।

(४) वर्ण—अ० १०। ३३—स्पष्ट है।

*****

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव

* * * * *

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है—इसके अन्दर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके सङ्कलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नम्बर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे लिये ठीक वैसा ही है जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य नूतन विलक्षण भाव-रत्नराशिकी उपलब्धि होती है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है—यह सब उपनिषदोंका सार है। सूत्रोंमें जैसे विशेष भावोंका समावेश रहता है उससे भी कहीं बढ़कर भावोंका भण्डार इसके श्लोकोंमें भरा पड़ा है। इसके श्लोकोंको श्लोक नहीं, मन्त्र कहना चाहिये। भगवान्‌के मुखसे कहे जानेके कारण वस्तुतः मन्त्रोंसे भी बढ़कर ये परम मन्त्र हैं। इतनेपर भी ये श्लोक क्यों कहे जाते हैं? इसलिये कि वेद-मन्त्रोंसे जैसे स्त्री और शूद्रादि वञ्चित रह जाते हैं, कहीं वैसे ही वे बेचारे इस अनुपम गीता-शास्त्रसे भी वञ्चित न रह जायँ। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने सब जीवोंके कल्याणार्थ अर्जुनके बहाने इस तात्त्विक ग्रन्थ-रत्नको संसारमें प्रकट किया है। इसके प्रचारककी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने, चाहे

वे कोई हों, भक्तोंमें इसके प्रचारकी स्पष्ट आज्ञा दी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(गीता १८।६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्यमय गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा।'

गीताका प्रचार-क्षेत्र संकीर्ण और शिथिल नहीं है। भगवान् यह नहीं कहते कि अमुक जाति, वर्णाश्रम अथवा देश-विदेशमें ही इसका प्रचार किया जाना चाहिये। भक्त होनेपर चाहे मुसलमान हो चाहे ईसाई, ब्राह्मण हो या शूद्र सभी इसके अधिकारी हैं, परन्तु भगवान् यह अवश्य कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

(गीता १८।६७)

'तेरे हितार्थ कहे हुए इस गीतारूप परम रहस्यको [illegible] तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न [illegible] विना सुननेकी इच्छावालेके ही प्रति और जो मेरी [illegible] भी नहीं कहना चाहिये।' यह निषेध भी ठीक है, [illegible] अभक्त है तो इसका अधिकारी नहीं है। शूद्र [illegible] है। जाति-पाँति और नीच-ऊँचका इसमें कोई [illegible] लिये और भी तो विशेषण कहे गये हैं? [illegible] खुली आज्ञा है तो जो भक्त होता है वह [illegible]

****

भगवान्‌के अमृतवचन सुननेकी उत्कण्ठा रहती ही है। अपने प्रियतमकी बातको न सुननेका तो प्रेमी भक्तके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ईश्वरकी भक्ति होनेपर तप तो उसमें आ ही गया, अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि चाहे कोई भी मनुष्य हो भगवान् श्रीकृष्णका भक्त होनेपर वह गीताका अधिकारी है। इसके प्रत्येक श्लोकको मन्त्र या सूत्र कुछ भी मानकर जितना भी इसे महत्त्व दिया जाय उतना ही थोड़ा है। मक्खन जैसे दूधका सार है वैसे ही गीता सब उपनिषदोंका निचोड़ है। इसीलिये व्यासजीने कहा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सब उपनिषदें गौ हैं, भगवान् गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, पार्थ बछड़ा है, गीतारूप महान् अमृत ही दूध है, अच्छी बुद्धिवाले अधिकारी उसके भोक्ता हैं।

इस प्रकारका गीताका ज्ञान हो जानेपर मनुष्यको किसी दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। इसमें सब शास्त्रोंका पर्यवसान है। गहरा गोता लगानेपर इसमें अनेक अनोखे रत्नोंकी प्राप्ति होती है। अधिक मननसे ज्ञानका भण्डार खुल जाता है। इसीसे कहा गया है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

गीता भगवान्‌का स्वरूप है, श्वास है—भाव है। इस श्लोकके 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म' शब्दोंमें बड़ा विलक्षण भाव भरा पड़ा है। इनके पारस्परिक अन्तर और रहस्यपर भी ध्यान देना चाहिये। भगवान् 'पद्मनाभ' कहलाते हैं, क्योंकि उनकी नाभिसे कमल निकला और उस कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। इन्हीं ब्रह्माजीके मुखसे चारों वेद कहे गये हैं और उन वेदोंका ही विस्तार सब शास्त्रोंमें किया गया है। अब गीताकी उत्पत्तिपर विचार कीजिये। वह स्वयं परमात्माके मुख-कमलसे निकली है, अतः गीता भगवान्‌का हृदय है। इसीलिये यह मानना पड़ता है कि सर्वशास्त्र गीताके

पेटमें समाये हुए हैं। जिसने केवल गीताका ही सम्यक् अभ्यास कर लिया, उसे अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी आवश्यकता ही क्या है ? उसके कल्याणके लिये तो गीताका एक ही श्लोक पर्याप्त है।

अब 'सुगीता'के अर्थपर विचार करना चाहिये। यह ठीक है कि गीताका केवल पाठ करनेवालेका भी कल्याण हो सकता है, क्योंकि भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८।७०)

पर त्रुटि इतनी ही है कि वह उसके तत्त्वको नहीं जानता। इससे उत्तम वह है जो इसका पाठ अर्थ और भावोंको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करता है। इस प्रकार एक श्लोकका भी पाठ करनेवाला उससे बढ़कर माना जायगा। इस हिसाबसे गीताका पाठ यद्यपि प्रायः दो वर्षोंमें समाप्त होगा, पर उसके ७०० श्लोकोंके केवल नित्यपाठके फलसे भी इसका फल विशेष ही रहेगा। इस प्रकार अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेवालेसे भी वह उत्तम माना जायगा जो उसके अनुसार अपने जीवनको बना रहा है। चाहे यह व्यक्ति दो वर्षोंमें केवल एक ही श्लोकको काममें लाता है, पर इस प्रकार परमात्म-प्राप्तिके साधनवाले श्लोकोंमेंसे किसी एकको धारण करनेवाला सर्वोत्तम है। एक पुरुष तो लाखों श्लोकोंका पाठ कर गया, दूसरा सात सौका और केवल तीसरा एकहीका। पर हमें यह मानना पड़ेगा कि केवल एक ही श्लोकको आचरणमें लानेवाला मनुष्य लाखोंका पाठमात्र करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इस प्रकार गीताके सम्पूर्ण श्लोकोंका अध्ययन करके जो उन्हें पूर्णतया जीवनमें कार्यान्वित कर लेता है उसीका 'गीता सुगीता' कर लेना है। गीताके अनुसार इस प्रकार चलनेवाला ज्ञानी तो गीताकी चैतन्यमय मूर्ति है।

अब यदि यह पूछा जाय कि गीतामें ऐसे कौन-से श्लोक हैं जिनमेंसे

केवल एकको ही काममें लानेपर मनुष्यका कल्याण हो जाय, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि गीताके प्रायः सभी श्लोक ज्ञानपूर्ण और कल्याणकारक हैं। फिर भी सम्पूर्ण गीतामें एक तिहाई श्लोक तो ऐसे दीखते हैं कि जिनमेंसे एकको भी भलीभाँति समझकर काममें लानेसे अर्थात् उसके अनुसार आचरण बनानेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है। उन श्लोकोंकी पूर्ण संख्या विस्तारभयसे न देकर पाठकोंकी जानकारीके लिये कतिपय श्लोकोंकी संख्या नीचे लिखी जाती है—

अ० २ श्लो० २०, ७१; अ० ३ श्लो० १७, ३०; अ० ४ श्लो० २०—२७; अ० ५ श्लो० १०, १७, १८, २९; अ० ६ श्लो० १४, ३०, ३१, ४७; अ० ७ श्लो० ७, १४, १९; अ० ८ श्लो० ७, १४, २२; अ० ९ श्लो० २६, २९, ३२, ३४; अ० १० श्लो० ९, ४२; अ० ११ श्लो० ५४, ५५; अ० १२ श्लो० २, ८, १३, १४; अ० १३ श्लो० १५, २४, २५, ३०; अ० १४ श्लो० १९, २६; अ० १५ श्लो० ५, १५; अ० १६ श्लो० १; अ० १७ श्लो० १६ और अ० १८ श्लो० ४६, ५६, ५७, ६२, ६५, ६६।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकोंमेंसे एक श्लोकको भी अच्छी तरह काममें लानेवाला पुरुष मुक्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण गीताको अर्थ और भावसहित समझकर श्रद्धा-प्रेमसे अध्ययन करता हुआ उसके अनुसार चलता है उसके तो रोम-रोममें गीता ठीक उसी प्रकार रम जाती है जैसे परम भागवत श्रीहनुमान्‌जीके रोम-रोममें 'राम' रम गये थे। जिस समय वह पुरुष श्रद्धा और प्रेमसे गीताका पाठ करता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके रोम-रोमसे गीताका सुमधुर संगीत-स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है।

गीताका विषय-विभाग

गीताका विषय बड़ा ही गहन और रहस्यपूर्ण है। साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या, इसमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कोई-कोई तो अपने आशयके अनुसार ही इसका अर्थ कर लेते हैं। उन्हें अपने मतके अनुसार इसमें

मसाला भी मिल जाता है। क्योंकि इसमें कर्म, उपासना, ज्ञान सभी विषयोंका समावेश है और जहाँ जिस विषयका वर्णन आया है वहाँ उसकी भगवान्‌ने वास्तविक प्रशंसा की है। अतः अपने-अपने मतको पुष्ट करनेके लिये इसमें सभी विद्वानोंको अपने अनुकूल सामग्री मिल ही जाती है। इसलिये ये अपने सिद्धान्तके अनुसार मोमके नाककी तरह खींचातानी करके इसे अपने मतकी ओर ले जाते हैं। जो अद्वैतवादी (एक ब्रह्मको माननेवाले) हैं वे गीताके प्रायः सभी श्लोकोंको अभेदकी तरफ, द्वैतवादी द्वैतकी तरफ और कर्मयोगी कर्मकी तरफ ही ले जानेकी चेष्टा करते हैं अर्थात् ज्ञानियोंको यह गीताशास्त्र ज्ञानका, भक्तोंको भक्तियोगका और कर्मयोगियोंको कर्मका प्रतिपादक प्रतीत होता है। भगवान्‌ने बड़ी गम्भीरताके साथ अर्जुनके प्रति इस रहस्यमय ग्रन्थका उपदेश किया, जिसे देखकर प्रायः सभी संसारके मनुष्य इसे अपनाते और अपनी ओर खींचते हुए कहते हैं कि हमारे विषयका प्रतिपादन इसमें किया गया है। परन्तु भगवान्‌ने द्वैत, अद्वैत या विशिष्टाद्वैत आदि किसी वादको या किसी धर्म-सम्प्रदाय जाति अथवा देशविशेषको लक्ष्यमें रखकर इसकी रचना नहीं की। इसमें न तो किसी धर्मकी निन्दा और न किसीकी पुष्टि ही की गयी है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और भगवान्‌द्वारा कथित होनेसे इसे स्वतः प्रामाणिक मानना चाहिये। इसे दूसरे शास्त्रके प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है—यह तो स्वयं दूसरोंके लिये प्रमाण-स्वरूप है। अस्तु !

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि इसके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका, द्वितीय षट्कमें उपासनाका और तृतीयमें ज्ञानका विषय वर्णित है। उनका यह कथन किसी अंशमें माना जा सकता है, पर वास्तवमें ध्यानपूर्वक देखनेसे यह पता लग सकेगा कि द्वितीय अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक सभी अध्यायोंमें न्यूनाधिक रूपमें कर्म, उपासना और ज्ञान-विषयका प्रतिपादन किया गया है। अतः गम्भीर विचारके बाद इसका विभाग इस प्रकार किया जाना उचित है—

प्रथम अध्यायमें तो मोह और स्नेहके कारण अर्जुनके शोक और विषादका वर्णन होनेसे उसका नाम अर्जुन-विषादयोग पड़ा। इसमें कर्म, उपासना और ज्ञानके

****

उपदेशका विषय नहीं है। इस अध्यायका उद्देश्य अर्जुनको उपदेशका अधिकारी सिद्ध करना ही है। द्वितीय अध्यायमें सांख्य और निष्काम कर्मयोग-विषयका वर्णन है। प्रधानतया अ० २ श्लोक ३९से अ० ६ श्लोक ४ तक भगवान्ने विस्तारपूर्वक निष्काम कर्मयोगके विषयका अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे वर्णन किया है। भक्ति और ज्ञानका विषय भी प्रसङ्गवश आ गया है, जैसे अ० ५ श्लोक १३ से २६ तक ज्ञान और अ० ४ श्लोक ६ से ११ तक भक्ति। शेष छठे अध्यायमें ध्यानयोगका प्रतिपादन किया गया हैं। दूसरे शब्दोंमें हम इसे मनके संयमका विषय कह सकते हैं। इसीलिये इसका नाम आत्मसंयमयोग रखा गया। अध्याय ७ से १२ तक तत्त्व और प्रभावके सहित भगवान्की भक्तिका रहस्य अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा समझाया गया है। इसीसे भक्तिके साथ भगवान्ने ज्ञान-विज्ञान आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इन छः अध्यायोंके षट्कको भक्तियोग या उपासना-काण्ड पद दिया जा सकता है। अध्याय १३ और १४में तो मुख्यतया ज्ञानयोगका ही प्रतिपादन किया गया है। १५ वें अध्यायमें भगवान्के रहस्य और प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन है। १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी-सम्पदावाले पुरुषोंके लक्षण अर्थात् श्रेष्ठ और नीच पुरुषोंके आचरणका उल्लेख-किया गया है। इसके द्वारा मनुष्यको विधि-निषेधका बोध होता है, अतः इसे ज्ञानयोगप्रतिपादक किसी अंशमें मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। १७ वें अध्यायमें श्रद्धाका तत्त्व समझानेके लिये प्रायः निष्काम कर्मयोग-बुद्धिसे यज्ञ, दान और तपादि कर्मोंका विभाग किया गया है, अतः इसे निष्काम कर्मयोग-विषयका ही अध्याय समझना चाहिये। १८ वें में उपसंहाररूपसे भगवान्ने सभी विषयोंका वर्णन किया है। जैसे श्लोक १ से १२ और ४१ से ४८ तक कर्मयोग, १३ से ४० और ४९ से ५५ तक ज्ञानयोग तथा ५६से ६६ तक कर्मसहित भक्तियोग।

गीतोपदेशका आरम्भ और पर्यवसान

गीताके मुख्य उपदेशका आरम्भ '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**' आदि श्लोकसे हुआ है। इसीसे लोग इसे गीताका बीज कहते हैं, परन्तु '**कार्पण्यदोषोपहत-स्वभावः**' (२।७) आदि श्लोक भी बीज कहा गया है; क्योंकि अर्जुनके भगवत्-शरण होनेके कारण ही भगवान्‌द्वारा यह गीतोपनिषद् कहा गया। गीताका पर्यवसान—समाप्ति शरणागतिमें है। यथा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

प्र०—भगवान् अर्जुनको क्या सिखलाना चाहते थे?

उ०—तत्त्व और प्रभावसहित भक्तिप्रधान कर्मयोग।

प्र०—गीतामें प्रधानतः धारण करनेयोग्य विषय कितने हैं?

उ०—भक्ति, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग। ये चारों विषय दोनों निष्ठाओं (सांख्य और कर्म) के अन्तर्गत हैं।

प्र०—गीताके अनुसार परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषके प्रायः सम्पूर्ण लक्षणोंका, मालाकी मणियोंके सूत्रकी तरह, आधाररूप लक्षण क्या है?

उ०—'समता।'

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

जिनका मन समत्वभावमें स्थित है; उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम हैं, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं—

मान-अपमान, सुख-दुःख, मित्र-शत्रु और ब्राह्मण-चाण्डाल आदिमें जिनकी समबुद्धि है, गीताकी दृष्टिसे वे ही ज्ञानी हैं।

प्र०—गीता क्या सिखलाती है ?

उ०—आत्मतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरकी भक्ति, स्वार्थका त्याग और धर्म-पालनके लिये प्राणोत्सर्ग! इन चारोंमेंसे जो एक गुणको भी जीवनमें क्रियात्मक रूप दे देता है—एकका भी सम्यक् पालन कर लेता है, वह स्वयं मुक्त और पवित्र होकर दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकता है। जिनको परमात्म-दर्शनकी अतीव तीव्र उत्कण्ठा हो—जो यह चाहते हों कि हमें शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो, उन्हें धर्मके लिये अपने प्राणोंको हथेलीमें लिये रहना चाहिये। जो ईश्वरकी आज्ञा समझकर धर्मकी वेदीपर प्राणोंको विसर्जन करता है वस्तुतः उसका प्राण-विसर्जन परमात्माके लिये ही है, अतः ईश्वरको भी तत्काल उसका कल्याण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। जैसे गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्मार्थ अपने प्राणोंकी आहुति देकर मुक्ति प्राप्त की, वैसे ही जो धर्म अर्थात् ईश्वरके लिये सर्वस्व होम देनेको सदा-सर्वदा प्रस्तुत रहता है उसके कल्याणमें सन्देह ही क्या है ?

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' (गीता ३।३५)

आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है, क्योंकि वह इस बातको अच्छी तरह समझ जाता है कि आत्माका कभी नाश होता ही नहीं।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें किसीका किञ्चित् भी भय है, तबतक समझ लेना चाहिये कि वह आत्मतत्त्वसे बहुत दूर है। जिनको ईश्वरकी शरणागतिके रहस्यका ज्ञान है, वही पुरुष धर्मके लिये—ईश्वरके लिये—हँसते-हँसते प्राणोंको होम सकता है। यही उसकी कसौटी है। वास्तवमें

स्वार्थका त्याग भी यही है। भगवद्-वचनोंके महत्त्व और रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति आवश्यकता पड़नेपर स्त्री, पुत्र और धनादिकी तो बात ही क्या, प्राणोत्सर्गतक कर देनेमें तिलभर भी पीछे नहीं रहता—सदा तैयार रहता है। जो व्यक्ति धर्म अर्थात् कर्तव्य-पालनका तत्त्व जान जाता है उसकी प्रत्येक क्रियामें मान-बड़ाई आदि बड़े-से-बड़े स्वार्थका आत्यन्तिक अभाव झलकता रहता है। ऐसे पुरुषोंका जीवन-धारण केवल भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा लोकहितार्थ ही समझा जाता है।

प्र०—गीतामें सबसे बढ़कर श्लोक कौन-सा है?

उ०—**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

इस श्लोकमें कथित शरणके प्रकारकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय ९ श्लोक ३४ एवं अध्याय १८ श्लोक ६५में भलीभाँति की गयी है।

प्र०—भगवान्‌ने अपने दिये हुए उपदेशोंमें गुह्यतम उपदेश किसको बतलाया है?

उ०—'**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**' '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' आदिको (१८।६५-६६)।

प्र०—गीता सुनानेमें भगवान्‌का लक्ष्य क्या था?

उ०—अर्जुनको पूर्णतया अपनी शरणमें लाना।

प्र०—इसकी पूर्ति कहाँ होती है?

उ०—अध्याय १८ श्लोक ७३में—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

* * * * *

तेरह आवश्यक बातें

* * * * *

(१) प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये, समयपर की हुई सन्ध्या बहुत ही लाभदायक होती है। स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। ठीक कालपर सन्ध्या करनेवाले पुरुषके धर्म-तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है।

(२) वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया, अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री मन्त्रका जप करना चाहिये। कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये।

(३) **हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष सब समय कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलि-सन्तरण-उपनिषद्में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

(४) श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परन्तु वास्तवमें बिना मतलब समझकर किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है; इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

(५) प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्‌की मूर्ति

रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका सञ्चय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

(६) मनुष्यको प्रतिदिन (गीता अध्याय ६ श्लोक १०से १३ के अनुसार) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घण्टे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार भगवान्‌का ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

(७) प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्च महायज्ञोंका विधान है वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(८) मनुष्यको सब समय भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये (गीता ८।७)।

(९) परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त है, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है; अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्य कर्मद्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये (गीता १८।४६)।

(१०) अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

(११) सम्पूर्ण जीव परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाको त्यागकर सबके साथ निःस्वार्थभावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(१२) धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थ-त्यागी, सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्गकर उनकी आज्ञा तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए सङ्गका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

(१३) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मननके द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपनी आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

*****

मनन करने योग्य

* * * * *

विशेष महत्त्वका भजन वह है जिनमें ये छः बातें होती हैं—

१—जिस मन्त्र या नामका जप हो उसके अर्थको भी समझते जाना।

२—भजनसे मनमें किसी प्रकारकी भी लौकिक-पारलौकिक कामना न रखना।

३—मन्त्र-जपके या भजनके समय बार-बार शरीरका पुलकित होना, मनमें आनन्दका उत्पन्न होना। आनन्द न हो तो आनन्दका संकल्प या भावना करनी चाहिये।

४—यथासाध्य भजन निरन्तर करना।

५—भजनमें श्रद्धा रखना और उसे सत्कारबुद्धिसे करना।

६—जहाँतक हो भजनको गुप्त रखना।

ध्यानके सम्बन्धमें—

१—एकान्त स्थानमें अकेले ध्यान करते समय मन अपने ध्येयमें प्रसन्नताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक स्वाभाविक ही तल्लीन रहे; तभी ध्यान अच्छा होता है। इस प्रकारकी स्थितिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। अभ्यासमें निम्नलिखित साधनोंसे सहायता मिल सकती है—

क—श्वासद्वारा जप।

ख—अर्थसहित जप।

ग—भगवान्‌के प्रेम, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी बातें पढ़नी-सुननी।

२—एकान्तमें ध्यानके समय किसी भी सांसारिक विषयकी ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये। उस समय तो एकमात्र ध्येयका ही लक्ष्य रखना चाहिये। दूसरी बड़ी-से-बड़ी बातका भी मनसे तिरस्कार कर देना लाभदायक है।

३—सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघनमें स्थित होकर ज्ञान-नेत्रोंद्वारा ऐसे देखना चाहिये मानो सब कुछ मेरे ही सङ्कल्पके आधारपर स्थित है। संकल्प करनेसे

ही सबकी उत्पत्ति है और संकल्पके अभावसे ही अभाव है। यों समझकर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिये। संकल्पत्यागके बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन है। इस प्रकार अचिन्त्यके ध्यानका तीव्र अभ्यास एकान्तमें करना चाहिये।

साधकोंके लिये आवश्यक बातें—

१—रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है। इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये।

२—संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका संग जहाँतक हो, कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३—किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये, स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

४—सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

५—निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो, उसे ही छोड़ देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वयं पधारकर चेत करावें तो भी सुतीक्ष्णकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे।

६—इन सब साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये किसी बातकी भी परवा न करनी चाहिये। शरीरकी भी नहीं।

७—शरीरमें अहङ्कार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है। अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये।

*****

सार बातें

* * * * *

'सत्संगकी बातें सुननेसे जो असर होता है वह पाँच मिनटके कुसंगसे कम हो जाता है, क्योंकि कुसंग पाते ही पूर्वके कुविचार जग उठते हैं, इसलिये कुसंगका सर्वथा त्याग करे।'

'बुरे कर्म करनेवालोंकी दुर्गति होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है, बुरे कर्म करनेवालोंका जो चिन्तन करते हैं, उनकी भी हानि होती है। व्यभिचारीको याद करनेसे कामकी जागृति होती है।'

'भगवान्‌का भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये, नहीं तो कपूरकी भाँति मान-बड़ाईमें उड़ जाता है।'

'स्वार्थको छोड़कर दूसरेके हितके लिये चेष्टा करनी, यही उसे प्रेममें बाँधनेका उपाय है।'

'दूसरेको सुख पहुँचाना ही उसे अपना बना लेना है। अपना तन, मन, धन जो कुछ दूसरेके काममें लग जाय वही सार्थक है, बाकी तो सब व्यर्थ जाता है। जो इस बातको ध्यानमें रखकर चलता है उसे कभी पछताना नहीं पड़ता।'

'भगवान्‌को बुलाना हो तो अनन्य प्रेम करना चाहिये। प्यारे मनमोहनकी माधुरी मूर्तिको मनसे कभी न भुलावे। आर्तभावसे भगवान्‌के लिये रोवे। भगवान् अपने प्रेमी भक्तके साथ रहते हैं। तुम अनन्य प्रेम करोगे तो तुम्हें भगवत्‌की प्राप्ति अवश्य हो जायगी।'

'चाहे सारी दुनियासे नाता टूट जाय और प्राण अभी चले जायँ, परन्तु भगवान्‌के प्रेममें किञ्चित् भी कलङ्क नहीं लगने देना चाहिये।'

'जैसे विषनाशिनी विद्या जाने बिना सर्पको पकड़ रखनेसे वह काट लेता है, फिर विष चढ़ जानेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य विषयोंको पकड़कर अन्तमें उनमें मतवाला होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।'

'ज्ञानी पुरुषोंकी वाणीसे निकली हुई ज्ञानरूपी चिनगारियाँ जिसके कानोंद्वारा अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं, उसके सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।'

'काम, क्रोध तभीतक रहते हैं जबतक अज्ञान है। अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामादि कार्य नहीं रह सकते।'

'भगवान्‌का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, यह बात कहनेसे समझमें नहीं आ सकती। जिनका भजनमें प्रेम होता है, वे इस बातका अनुभव करते हैं।'

'जिस मनुष्यकी भगवान् या किसी महात्मामें पूर्ण श्रद्धा हो जाती है वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणतामें जितनी कमी है, उतनी ही कमी विश्वासमें भी समझनी चाहिये।'

'महापुरुषोंद्वारा किये गये उत्तम बर्तावको भगवान्‌का बर्ताव ही समझना चाहिये। क्योंकि महापुरुषके अन्दरसे भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं।'

'एक श्रीसच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है। जैसे समुद्र सब ओरसे जलसे व्याप्त है, इसी प्रकार यह संसार परमात्मासे व्याप्त है।'

'भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्‌के प्रभाव और प्रेमरहस्यकी बातें सुननी चाहिये और उन्हींके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे उद्धारमें कोई शंका नहीं।'

'समय बीत रहा है, बहुत सोच-समझकर इसे कीमती काममें लगाना चाहिये। वह कीमती काम भगवान्‌का भजन और सन्तोंका संग ही है।'

'भगवान्‌को सर्वोत्तम समझनेके बाद एक क्षणके लिये भी भगवान्‌का ध्यान नहीं छूट सकता। जबतक भगवान्‌के ध्यानका आनन्द-रस नहीं मिलता, तभीतक वह संसारके विषयोंकी धूल चाटता है।'

****

'जो मनुष्य संसारके क्षणभंगुर नाशवान् पदार्थोंको सच्चे और सुखदायी समझकर उनका चिन्तन करता है, उनसे प्रेम करता है और अज्ञानसे उनमें अपना जीवन लगाता है वह महामूर्ख है।'

'श्रीनारायणदेवके समान अपना परम सुहृद्, दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी और कोई भी नहीं है, इतना होनेपर भी अज्ञानी जीव उन्हें भुलाकर क्षणविनाशी विषय-भोगोंमें लग रहा है, अपने अमूल्य जीवनको धूलमें मिला रहा है। अज्ञानकी यही महिमा है।'

'मान, बड़ाई, स्वाद, शौकीनी, सुख-भोग, आलस्य-प्रमाद सबको छोड़कर श्रीपरमात्माके शरण होना चाहिये। भगवान्‌की शरणागति बिना कल्याण होना कठिन है।'

'भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन, भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहना, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना और निष्कामभाव रखना—यही भगवान्‌की शरणागति है।'

'ध्यानके लिये वैराग्य और उपरामता ही मुख्य साधन है। आनन्दकी नदी बह रही है। मायाका बाँध तोड़ डालो, फिर तुम्हारा अन्तःकरणरूपी खेत आप ही आनन्दसे भर जायगा, तुम आनन्दस्वरूप हो जाओगे।'

'मनुष्यको अपने दोषोंपर विचार करना चाहिये। दोषोंपर ध्यान देनेसे उनके नाशके लिये आप ही चेष्टा हो सकती है।'

'जहाँ मन जाय, वहाँ या तो परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये या उसे वहाँसे हटाकर पुनः जोरसे भगवान्‌में लगाना चाहिये। नाम-जप करते रहनेसे मन लगानेमें बहुत सहायता मिलती है।'

'निष्काम-भावसे जीवोंकी सेवा करनेसे और किसीकी भी आत्माको कष्ट न पहुँचानेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।'

'जो मनुष्य भगवान्‌की नित्य समान दयाका प्रभाव जान लेता है, वह भगवत्-भजनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता।'

'विषयोंमें फँसे हुए मनुष्योंको प्रेमपूर्वक सत्सङ्गमें लगाना चाहिये। जीवोंको श्रीनारायणके शरण करनेके समान उनकी दूसरी कोई भी सेवा नहीं है; यह सेवा सच्चे प्रेमियोंको अवश्य ही करनी चाहिये।'

'मनसे निरन्तर श्रीभगवान्‌का ध्यान करना और उन्हें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा करनी चाहिये। वाणीसे श्रीभगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन सदा-सर्वदा करना चाहिये। शरीरसे प्राणिमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निष्काम-भावसे उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।'

'मन बड़ा ही पाजी और हरामी है। इससे दबना नहीं चाहिये। संसारके आरामोंसे हटाकर इसे बहुत जोरसे श्रीहरिके भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये।'

'संसारके अनित्य पदार्थोंमें प्रेम करके अमूल्य जीवनको व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। सच्चे दयालु और परम धन परमात्माके साथ प्रेम करना चाहिये और उनकी शरण होकर उनकी दयालुता और प्रेमका आनन्द लूटना चाहिये।'

'श्रीभगवान्‌में अनन्य प्रेम होना चाहिये, निरन्तर विशुद्ध प्रेमसे उनका स्मरण होना चाहिये। दर्शन न हो तो कोई परवा नहीं, प्रेमको छोड़कर दर्शनोंकी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये। सच्चे प्रेमी भक्त दर्शनके भूखे नहीं होते, प्रेमके पिपासु होते हैं। प्रेमके सामने मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है।'

'प्रभुके मिलनेमें इसीलिये विलम्ब होता है कि साधक भक्त उस विलम्बको सह रहा है, जिस क्षण उसके लिये प्रभुका वियोग असह्य हो जायगा, प्रभु बिना उसके प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण भगवान्‌का मिलन होगा। जबतक भगवान्‌के बिना उसका काम चल रहा है, तबतक भगवान् भी देखते हैं कि इसका मेरे बिना काम तो चल ही रहा है फिर मुझे ही इतनी क्या जल्दी है?'

'जो मायाके वशमें है, माया उन्हींके लिये प्रबल है। परमात्मा और उसके प्रभावको जाननेवाले भक्तोंके सामने मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं है।

****

यदि मनुष्य परमात्माके शरण होकर उसके रहस्य और स्वरूपको जान ले तो मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं रह जाती। जीव परमात्माका सनातन अंश है, अपनी शक्तिको भूल रहा है, इसीसे उसे माया प्रबल प्रतीत होती है, यदि भगवत्कृपासे अपनी शक्तिको जाग्रत् कर ले तो मायाकी शक्ति सहज ही परास्त हो जाय।'

'गुणातीतकी वास्तविक स्थितिको दूसरा कोई भी नहीं जान सकता। वह स्वसंवेद्य अवस्था है। परन्तु जो अपनेमें ज्ञानीके लक्षण हैं कि नहीं, इस बातकी परीक्षा करता है, उसे ज्ञानी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि लक्षणोंके खोजनेसे उसकी स्थिति शरीरमें सिद्ध होती है। ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है नहीं, फिर खोजनेवाला कौन ?'

'जो द्रव्य परोपकार यानी लोक-सेवामें खर्च किया जाता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाला होता है। यदि निष्काम-भावसे खर्च किया जाय तो वही मुक्तिदायक बन जाता है, यह बात युक्ति और शास्त्र दोनों ही प्रमाणोंसे सिद्ध है।'

'श्रीभगवान्‌के नाम-जपसे मनकी स्फुरणाएँ रुकती हैं, पापोंका नाश होता है, मनुष्य गिरनेसे बचता है, उसे शान्ति मिलती है। नाम-जप ईश्वर-प्राप्तिमें सर्वश्रेष्ठ साधन है। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कुछ भी न बन सके तो केवल नाम-जपसे ही भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। नाम-महिमा सर्व शास्त्रसम्मत है और युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है, इसीलिये निरन्तर निष्काम-भावसे नाम-जपकी चेष्टा करनी चाहिये।'

